# महान् के दर्शन

( सन्ध्या के उपस्थान मन्त्रों की व्याख्या )

लेखक—
चिरंजीवलाल वानप्रस्थी

प्राप्ति स्थान
ला० देवीदयाल चण्ढोक
१० टैंप रोड, लाहौर



प्रथम संस्करण जुलाई १६४५ मूल्य बारह आना

# महान् के दर्शन

( सन्ध्या के उपस्थान मन्त्रों की व्याख्या )

लेखक—

**चिरंजीवलाल वानप्रस्थी**



प्राप्ति स्थान

**ला० देवीदयाल चण्ढोक**

१० टैप रोड, लाहौर

प्रथम संस्करण जुलाई १९४५ मूल्य बारह आना

प्रकाशक—
श्री जयदेव
काश्मीर मैटल मार्ट
श्रीनगर, काश्मीर

मुद्रक—
विश्वनाथ एम० ए०
दी आर्य प्रैस लिमिटिड,
१७ मोहनलाल रोड, लाहौर।

# विषय सूची



---

## लेखक की रचनाएं

१. गायत्री महत्व
२. वैदिक लोरियाँ
३. मनुष्य के कर्तव्य
४. उपनिषद् कथा
५. महान के दर्शन
६. प्रेम की राह ( प्रेस में )

प्राप्ति स्थान—

१. ला० देवीदयाल चण्ढोक
१० टैप रोड, लाहौर।

२. मैसर्स राजपाल एण्ड संज़
हस्पताल रोड,
अनारकली, लाहौर।

# सन्ध्या का महत्व

## ( प्रारम्भिक वक्तव्य )

संसार में यदि किसी से कोई वस्तु लेनी हो तो उसके लिये दो ही विधान हैं। हमारा उससे इतना प्रेम और जान-पहचान हो कि वह हमारी आवश्यकता व न्यूनता को स्वयं ही पूरी कर देवे।

दूसरा तरीका यह है कि हम अपनी आवश्यकता उसके समीप प्रकट करें और उसकी पूर्ति के लिये प्रार्थना करें।

साधारणतया दूसरा तरीका ही प्रचलित है। क्योंकि पहला अधिकार तो किसी विरले व्यक्ति को ही प्राप्त होता है। इसी कारण से वैदिक संध्या के आरम्भ में ही अर्थात् पहले मन्त्र में जिज्ञासु मनुष्य ( संध्यायति ) अर्थात अच्छी प्रकार मन को लगा कर या ध्यान करके अपनी जगत् माता से, अपने मुख्य लक्ष्य को या आवश्यकता को प्रकट करता हुआ, उसी की पूर्ति के लिये प्रार्थना करता है। जिस आवश्यकता के पूर्ण होने पर, फिर कोई आवश्यकता शेष नहीं रहती और न यह न्यूनता किसी और से जीवात्मा को प्राप्त हो सकती है। वह जगन्माता ईश्वर सत्, चित्, आनन्द है; और जीवात्मा सत्, चित् है। यदि जीव का स्वाभाविक गुण आनन्द भी होता तो जीवात्मा आनन्द प्राप्ति की इच्छा और यत्न न करता। परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, कि प्रत्येक जीव आयु भर सुख के लिये यत्न करता रहता है। इसी लिये संध्या के प्रथम मन्त्र में जिसको आचमन मन्त्र कहा है, यही प्रार्थना की गई है कि हम पर ( शंयोरभि स्रवन्तु नः )

सर्वदा या सब ओर से आनन्द की वर्षा हो। यही मनुष्य अथवा प्राणिमात्र का अभीष्ट है। और इसी की प्राप्ति के लिये यह मनुष्य जन्म मिला है। क्योंकि और किसी योनि में जीव दुखों का सर्वथा नाश करके निरन्तर सुख या मुक्त अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु कोई वस्तु या सुख की प्राप्ति, केवल प्रार्थना करने से नहीं होती अपितु साधन रूप में नियत कर्म भी विधि पूर्वक करने आवश्यक हैं। क्योंकि शारीरिक शक्ति के बिना जीवात्मा की कोई कार्य सिद्धि नहीं होती और निर्बलता ही परतन्त्रता है, जो कि सब दुखों का कारण है। इस लिये दूसरे मन्त्र में जिसको इन्द्रिय स्पर्श मन्त्र कहा गया है, मनुष्य आनन्द सुख का अभिलाषी, अपनी शारीरिक उन्नति अर्थात् अपनी ज्ञान और कर्म इन्द्रियों की पुष्टि तथा शक्ति के लिये प्रार्थना करता है। क्योंकि इस शक्ति के बिना अन्य प्रत्येक प्रकार की प्रार्थना निष्फल और व्यर्थ होती है। इस वैदिक संध्या की विशेषता और महानता यही है, कि इसमें मन्त्रों का विधान भी (Scientific) वैज्ञानिक ढंग का है। जिसमें परिवर्तन की आवश्यकता नहीं, अर्थात वह बुद्धिपूर्वक है। इसी मन्त्र के अन्त में एक वाक्य आया है, जो कि इन्द्रियों की सब शक्तियों के साथ लागू होता है। वह है 'यशोबलम्' अर्थात् मेरा शारीरिक बल, यश व कीर्ति वाला हो। वही इस प्रार्थना की महानता है। कोई छिद्र अर्थात् न्यूनता रहने नहीं दी। शारीरिक बल की प्रार्थना तो जीवात्मा कर रहा है, परन्तु वह अनुभव करता है कि शारीरिक बल तो सृष्टि कर्ता, जगन्माता ने पशुओं को मनुष्य से बहुत अधिक दिया है। Might is Right 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' यह तो पशुपन है, जिस वृत्ति के त्याग व सुधार के लिये यह मनुष्य

जन्म मिला है । इसलिये प्रार्थना करता है, कि मुझे ऐसा शारीरिक बल दो जिसके सदुपयोग से मुझे यश, कीर्ति की प्राप्ति हो और जिसके बिना मनुष्य भी पशु ही रहता है, यद्यपि उसकी आकृति मनुष्य की होती है, क्योंकि पशुवृत्ति मनुष्य को अपने लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक है ।

अब प्रश्न होता है कि मनुष्य का शारीरिक बल, यश, कीर्ति कैसे बन सकता है जबकि शरीर प्रकृति के पदार्थों के सेवन से बनता है ? और प्रकृति में ज्ञान नहीं, इसलिये प्रकृति के बने पदार्थ भी यश, अपयश का न तो कारण हो सकते हैं और न ही इस गुण का ज्ञान या वृद्धि करा के सुख आनन्द की प्राप्ति करा सकते हैं । फिर इन्द्रियों की माता (उपादान कारण) प्रकृति होने से, तथा बहिर्मुख होने के कारण, इन्द्रियों की शक्तियां स्वाभाविक ही प्रकृति के अर्थात् अपने अपने विषयों की ओर अधिक प्रवृत्ति करती हैं । जहां निरन्तर सुख नहीं है, अपितु अज्ञान और मलिनता की वृद्धि है, परन्तु यश और कीर्ति तो सत पवित्र, ज्ञानपूर्वक परोपकार आदि कर्मों से प्राप्त हो सकती है ।

इसी अवस्था की प्राप्ति के लिये जीवात्मा संध्या के तीसरे मन्त्र में, जिसको मार्जन मन्त्र कहा गया है, जगदीश्वर से जो कि पवित्रता का स्रोत है, और जिसका प्रत्येक कार्य यश कीर्ति से पूर्ण है और पवित्र करना जिसका स्वभाव है, अपनी सर्व इन्द्रियों को पवित्र करने में सहायक होने की प्रार्थना करता है । और उसकी शक्तियों और महानता का वर्णन भी करता जाता है । पूर्व लिखा गया है, कि ( संध्यायति ) संध्या करने का तात्पर्य ही मन को एकाग्र करके प्रभु गुण चिन्तन में लगाना है । परन्तु कुछ गुणों वा तत्वों का ठीक मेल या एकाग्रता तब ही

होती है, जब वह अपने वास्तविक सत् स्वरूप में मिलें, और इसी को मन की पवित्रता कहा जाता है। अर्थात उनके बीच में अज्ञान आदि मलिनता का कोई परदा भी न हो। इस पवित्रता की प्राप्ति के लिये भी, केवल प्रार्थना के अतिरिक्त किसी अन्य साधन की भी आवश्यकता है। यद्यपि इस साधन की सिद्धि भी उस जगन्माता की कृपा से ही होती है। अतः मन की पवित्रता तथा एकाग्रता के लिये, जहां प्रभु प्रार्थना एक आवश्यक अंग है, वहां प्राणायाम करना भी एक आवश्यक कर्म है। जिस के बिना, केवल प्रार्थना सार्थक नहीं होती। जैसे भोजन बनाने के लिये, अथवा वस्त्र धोने के लिये, माता से प्रार्थना करने के अतिरिक्त, माता की आज्ञानुसार अग्नि जलाना, लकड़ी, जल, साबुन का लाना आदि काम करना भी आवश्यक है। जैसे एक छोटा बालक माता की सहायता तथा शिक्षा के बिना कोई कार्य सिद्धि नहीं कर सकता, वैसे ही जीवात्मा अपनी अल्पज्ञता के कारण, संध्या के चौथे मन्त्र में, जिसको प्राणायाम मन्त्र कहा है, उस सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ, प्राणों के अधिष्ठाता प्रभु के गुणों का वर्णन करते हुए प्राणायाम करने या प्राणायाम करने की सिद्धि के लिये प्रार्थना करता है। जैसे संसार की किसी वस्तु को जैसी वह है, वैसा ही देखने के लिये, मनुष्य की आंखों का स्वस्थ, पवित्र तथा एकाग्र होना आवश्यक है, अन्यथा उलटा ज्ञान होने के कारण फल भी उलटा अर्थात् दुःख का कारण होगा। इसलिये संध्या में यहां तक जीवात्मा को यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति की योग्यता प्राप्त कराने की विधि का विधान है। अर्थात् मन व बुद्धि रूपी मन्त्रों को एकाग्र और पवित्र करने की विधि वर्णित है। क्योंकि मनुष्य के परम लक्ष्य, आनन्द के स्रोत

जगदीश्वर का वास्तव यथार्थ ज्ञान कराने के लिये, केवल यही मन्त्र या चक्षु है। और इनका अपने वास्तव सत्य स्वरूप में होना ही सब से पूर्व आवश्यक कार्य है। जिस कार्य की सफलता के बिना मनुष्य का अपने लक्ष्य की ओर आगे चलना असम्भव है। इसलिए प्राणायाम मन्त्र का यहां आना अनिवार्य था और यही इस वैदिक संध्या की अमूल्य महिमा है। इन तीसरे व चौथे अर्थात् मार्जन और प्राणायाम मन्त्रों में, मनुष्य के प्राप्त करने योग्य ईश्वर के विचित्र और मुख्य-मुख्य गुणों का भी वर्णन किया गया है। जिससे जिज्ञासु को प्रभु के अनेक गुणों तथा कृति को जानने की इच्छा स्वाभाविक उत्पन्न होती है। इसी तात्पर्य से और जिज्ञासु की आस्तिकता को संशय रहित कर देने के लिए संध्या का पांचवां मन्त्र अर्थात् अघमर्षण मन्त्र है। जिसमें सृष्टि रचना का वर्णन और विधान है।

जिससे उस जगदीश्वर की महान शक्ति तथा सत्ता का ज्ञान होने पर मनुष्य अहंकार और लोकैषणा जैसे महा प्रबल विघ्न बाधाओं से बच कर, पाप रहित होकर अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। जैसे किसी मनुष्य को जब तक पीतल और सोने की पहचान और मूल्य का यथार्थ ज्ञान न हो, तब तक वह पीतल के त्याग और सोने के ग्रहण करने के लिए उद्यत न होगा और न ही सोने की प्राप्ति के लिये कोई विशेष कष्ट व तप करना, अपनी स्वतन्त्र स्वाभाविक इच्छा से, स्वीकार करेगा। और जहां ऐसी वास्तविक जिज्ञासा न हो, वहां पूरा प्रयत्न न होने के कारण सफलता नहीं होती। इस अघमर्षण मन्त्र का निरन्तर चिन्तन करने से मनुष्य को सोने और पीतल के यथार्थ ज्ञान की भांति जहां जगन्माता की महानता और सर्वव्यापकता

का ज्ञान प्राप्त होता है, वहां अपना (Self knowledge) और अपनी अल्पज्ञता का तथा ईश्वरकृत संसार में अपनी स्थिति का भी वास्तविक ज्ञान हो जाता है। जब तक किसी को अपने पद की स्थिति वा योग्यता का अनुभव नहीं होता, तब तक वह व्यक्ति न तो अपने कर्त्तव्य कर्मों को ठीक जान सकता है, और न उनका यथार्थ पालन कर सकता है। इसलिये जिज्ञासु को निरहंकार वा पाप रहित होकर अपने आप को वास्तव रूप में पहचान कर अपने कर्तव्य कर्मों को संसार में ठीक प्रकार करते हुए चारों ओर से आनन्द की वर्षा रूपी लक्ष्य की प्राप्ति कराने के लिये यहाँ अघमर्षण मन्त्र का होना आवश्यक ही था। जिज्ञासु को इस प्रकार, जगत्कर्ता ईश्वर तथा अपना (जीवात्मा) और सृष्टि (प्रकृति) का जब बोध हो जाता है तो एक (research schollar or scientist) विश्लेषण कर्ता या वैज्ञानिक की भांति जिसने किसी विषय या वस्तु के गुणों को पुस्तकों तथा विद्वान गुरुओं द्वारा पढ़ा सुना है और विचार भी किया है, प्रत्यक्ष करने के लिये अनेक आवश्यक साधनों द्वारा विश्लेषण करने का प्रयत्न करना होता है। ताकि उसका शाब्दिक ज्ञान, एक वास्तव ज्ञान या विज्ञान की अवस्था को प्राप्त होकर उसके अपने तथा संसार के प्राणी मात्र के कल्याण का साधन बन सके। इसी तात्पर्य की सिद्धि के लिए जिज्ञासु प्रत्यक्ष संसार के पदार्थों और शक्तियों द्वारा research या विश्लेषण करता है। और इस कृति का व्याख्यान ही संध्या के मनसा परिक्रमा मन्त्रों में किया गया है। जिसके बिना किसी वस्तु विषय या शक्ति का साक्षात्कार होना असम्भव है। इन मन्त्रों द्वारा जहां सृष्टि रचयिता ईश्वर की अनन्त शक्तियों का संशय रहित ज्ञान होता जाता है और

वह निरभिमानी होता है, वहाँ इन ईश्वरीय शक्तियों को प्रतिक्षण अपने जीवन का आधार अनुभव करता हुआ बारम्बार नमस्कार करके कृतज्ञता प्रकट करता जाता है, जो कि स्वाभाविक है। इसी क्रिया को ईश्वर चिन्तन या ध्यान भी कहा जाता है। यदि इस क्रिया का फल नम्रता निभमानता, तथा नमस्कार के रूप में प्रकट न हो, तो समझना चाहिए कि यह विश्लेषण या अन्वेषण वास्तव रूप में नहीं हुआ है। इसीलिये प्रत्येक मनसापरिक्रमा मन्त्र के साथ मन्त्र की सिद्धि के वस्तविक ज्ञान का अनुभव हो जाने के लिये सहज स्वाभाविक नमस्कार का होना आवश्यक था। इस प्रकार जिज्ञासु अघमर्षण तथा मनसापरिक्रमा द्वारा ईश्वर को प्रत्यक्ष जड़चेतन संसार का नियन्ता, स्वामी, प्राणाधार, अनुभव करता हुआ अर्थात् निर्गुण, सगुण, उपासना करता हुआ, यह विचारता है कि मुझे इस जगत् के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। जिससे यह जगत् मेरे लिये और मैं इस जगत के लिये, जगत स्वामी की आज्ञानुसार व्यवहार करके मनुष्य जीवन के लक्ष्य अर्थात् आनन्द की प्राप्ति का साधन बन कर प्रभु की उपासना में सफल हो सकूं। इस अति आवश्यक शिक्षा के लिये मनसापरिक्रमा मन्त्रों के अंत में दूसरों के प्रति, एक आध्यात्मिक उन्नति के जिज्ञासु को व्यवहार करने की विधि बतलाई गई है। ( यो अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ) कि चूंकि ईश्वर प्राणिमात्र का स्वामी है, इसलिये तू किसी से द्वेष न कर और यदि तेरे से कोई द्वेष करता है तो भी तू उससे द्वेष न कर, न बदला लेने की चेष्टा कर अपितु अपने आपको और उसको पिता जगदीश्वर के न्याय पर छोड़ दे। जैसे भाई भाई का झगड़ा पिता या माता पर छोड़ देने से

ही ठीक रहता है परस्पर विरोध नहीं बढ़ता और परिवार में शान्ति रहती है। यही वास्तविक आस्तिकता है। स्वामी या राजा के नियन्त्रण या न्याय को प्रजा के किसी व्यक्ति का हाथ में लेना, राजा या स्वामी को न जानना और मानना है, और यही नास्तिकता है। ईश्वर विश्वास की कमी है और जिसका परिणाम यह निकलता है कि जिज्ञासु संध्या करने वाले को अघमर्षण तथा मनसापरिक्रमा मन्त्रों का अभी आवश्यक पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ। अभी उसमें न्यूनता है और ईश्वर गुण चिन्तन के अभ्यास की आवश्यकता है। इस प्रकार पाठकों को वैदिक संध्या के स्थायी स्वरूप और महानता के दिग्दर्शन कराने का यत्न किया गया है। क्योंकि उपस्थान मन्त्रों का व्याख्यान करने से पूर्व, जो कि इस पुस्तक का विषय है, संध्या के पहले मन्त्रों पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत हुआ।

आशा है, मेरे इस प्रयत्न से जिज्ञासुओं को यत्किंचित लाभ होगा।

हजूरी बाग<br>
श्रीनगर<br>
१ जुलाई १९४५

—चिरंजीवलाल

ओ३म

# महान् के दर्शन

## ( १ )

## सबसे उत्तम ज्योति

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।। यजु० १८।२४

शब्दार्थ—[वयं] हम सब [उत्] उत्कृष्ट, श्रेष्ठ [तमसः] अव्यक्त-उपादान कारण प्रकृति से [परि] परे [उत्तरम्] अधिक उत्कृष्ट [स्वः] स्वात्मा को [पश्यन्तः] देखते अर्थात् अनुभव करते हुए [उत्तमं] सबसे उत्कृष्ट, श्रेष्ठ [ज्योतिः] परमात्मा तेज को [अगन्म] प्राप्त करते हैं, जो [देवत्रा देवं] सब दिव्य पदार्थों का प्रकाशक, और [ सूर्यं ] स्वयं प्रकाशमान, ज्ञानस्वरूप और सब के ज्ञान तथा प्रकाश का प्रेरक है।

भावार्थ—हम उस उत्कृष्ट श्रेष्ठ शक्तिशाली इस जगत् के उपादान कारण 'प्रकृति' अर्थात् संसार की बीजरूप अदृश्य (Invisible) भोग्यशक्ति (भोज्यवस्तु) और उसके कार्य दृश्यमान् (visiable) जड़ जगत् से परे, अति उत्कृष्ट श्रेष्ठतर चैतन्य ज्योति, भोक्तृशक्ति जीवात्मा को देखते हुए, साक्षात् करते हुए, अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेष्ठतम

चैतन्य ज्योति, अधिष्ठातृ-शक्ति ईश्वर (governing power of the universe) को प्राप्त हुए हैं, अर्थात् साक्षात्कार कर लिया है। जो जड़ चेतन सब देवों का देव है, और सूर्यों अर्थात् ज्ञानियों, विद्वानों से प्राप्त करने योग्य है।

इस मन्त्र और आगे लिखे तीन मन्त्रों को सन्ध्या के उपस्थान या उपासना के मन्त्र कहा गया है, अर्थात् ( उप ) समीप ( आसना ) आसन ग्रहण करना। इस अवस्था को प्राप्त जिज्ञासु अनुभव करता है कि जगत के संचालन में तीन शक्तियां कार्य कर रही हैं :—

१. प्रकृति, जो कि इस स्थूल कार्य जगत् का उपादान ( बीज रूप ) कारण है, जो कि सत (undestructable) नाशरहित है, परन्तु जड़ है। इस में स्वयं ज्ञान, गति तथा प्रकाश नहीं।

२. प्रकृति से उत्कृष्ट (परि) परे, पृथक् एक अन्य शक्ति है, जो कि भोक्तृ शक्ति है, अर्थात् जीव-आत्मा। जो सत् चित अर्थात् ज्ञानयुक्त और कर्म करने वाली शक्ति है। जिसके भोग के लिए यह प्रत्यक्ष संसार रचा गया है, इस लिए इस को उत्+तर=उत्तरम् कहा गया है।

३. इन दोनों शक्तियों से भिन्न एक अन्य ( उत्तमम् ) सब से श्रेष्ठ तथा उत्कृष्ट शक्ति को जिज्ञासु अनुभव करता है। जो कि सत् चित् तथा आनन्द स्वरूप है। जिसे परमात्मा कहा गया है, जो कि इस संसार की बीज रूप जड़ प्रकृति को

ज्ञानपूर्वक गति देकर इस प्रत्यक्ष संसार का रचयिता है। वह सदा सत अर्थात् एक रस रहने वाला है, परिवर्तनशील नहीं, न ही उसका कोई रचयिता है। ज्ञान, बल, क्रिया उसके स्वाभाविक गुण है, और जीवों के कर्मों का वह सदा से फल दाता है। वह स्वयं भोक्ता नहीं है। वह स्वयं ही ज्ञान, प्रकाश तथा ज्योति का स्रोत है (और जहां शुद्ध ज्ञान है, वहां ही वास्तविक स्थिर बल और कर्म है और वहीं आनन्द है) इसीलिए सूर्य, चन्द्र आदि जड़ देवों का प्रकाशक और जीवों को ज्ञान तथा आनन्द का देने वाला है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि जड़ पदार्थों को गति देने वाली कोई चैतन्य ज्ञानयुक्त शक्ति होनी चाहिए, और गति या रगड़ के बिना प्रकाश तथा ताप की उत्पत्ति नहीं हो सकते। यह गति और ताप या अग्नि सर्वव्यापक है, इसलिए गति देने वाला ईश्वर भी सर्वव्यापक है। उसी की उपासना व ज्ञान प्राप्ति से जीव ज्ञानपूर्वक कर्म करके आनन्द गुण को प्राप्त कर सकता है। इसलिए आनन्द के इच्छुक जीव को इन तीनों शक्तियों का ज्ञान आवश्यक है।

सांसारिक व्यवहार में भी प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि तीन शक्तियों (वस्तुओं) की उपस्थिति से ही किसी कार्य की सिद्धि होती है। यदि इन तीनों में से किसी एक का भी अभाव हो तो शेष दो भी अनावश्यक व निरर्थक हो जाती हैं।

यथा—मनुष्य को शिक्षा प्राप्त करने के लिए तीन

शक्तियों की आवश्यकता है। प्रथम विद्यार्थी, द्वितीय अध्यापक, तृतीय पुस्तक, पाठशालादि साधन। यदि केवल अध्यापक गुरु व ब्रह्म ही संसार में माना जावे तो ब्रह्म का ज्ञान, बल, क्रिया इत्यादि स्वाभाविक गुण किस काम के लिए हैं। जब कि उस में ज्ञान लेने वाला विद्यार्थी रूपी जीव आत्मा कोई नहीं है तब ब्रह्म की शक्तियां निरर्थक हो जाती हैं। यदि प्रकृति रूप पाठशाला या जगत नहीं है, या भ्रम मात्र है तो ब्रह्म तथा जीव दोनों का कार्यस्थल कहां पर है। अर्थात् जीव के कर्म करने, कर्म फल भोगने और ब्रह्म के कर्म फल देने तथा ज्ञान के प्रकट करने वाला क्षेत्र कहां है। जिस ज्ञान शक्ति का प्रकाश नहीं, वह निरर्थक होने से शून्यवत् है। परन्तु क्षेत्र ( संसार ) प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है, इस लिए इस की सार्थकता तथा सफलता तीनों शक्तियों की विद्यमानता में ही है।

इस सम्बन्ध में एक अन्य दृष्टान्त भी दिया जा सकता है—बाजार में दूकान पर दूध भरा पड़ा है, यदि लेने वाला जीव रूप ग्राहक कोई न हो तो दूध पड़ा पड़ा बिगड़ जावेगा, किसी अर्थ नहीं लगेगा। बेचने वाला दूकानदार रूपी ब्रह्म उस दूध का क्या करेगा। क्या उसने दूध दुकान पर स्वयं पीने के लिए एकत्रित कर रखा है ? परन्तु वह तो अकाम है, भोक्ता नहीं हैं। यदि दूध बेचने वाला दुकान पर कोई न हो तो जीव रूपी ग्राहक दूध किस से लेगा, और बांट कर

आवश्कतामात्र में कौन देगा। कोई नियम तथा नियन्त्रण न होगा। लूट मचेगी और यह संसार कोई सुखपूर्वक कर्म करने तथा जीवन व्यतीत करने का स्थान न रहेगा।

इस लिए ब्रह्म के गुणों या शक्तियों की सार्थकता प्रकट होने के लिए, संसार को नियन्त्रण में रखने के लिए तथा अज्ञानी जीवों को ज्ञान देकर, कर्म करने की शिक्षा देने तथा उलटे कर्म करके दुख भोग से बचने और मुक्ति का आनन्द प्राप्त कराने के लिए अथवा प्रकृति या उससे बने योग्य पदार्थों की सार्थकता क लिए, तीनों शक्तियों की आवश्यकता है। इस लिए जिज्ञासु अर्थात् सुख चाहने वाले मनुष्य रूपी यात्री को तीनों शक्तियों के यथार्थ गुण, कर्म, स्वभाव का ज्ञान होना चाहिए। जितनी इस ज्ञान में किसी व्यक्ति में त्रुटि होगी, उतनी ही उसकी जीवन यात्रा दुखप्रद और लम्बी होगी।

---

## 'देवं वहन्ति केतवः'

ओं उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ ऋ० ५०।१॥

शब्दार्थ—(त्यं) उस (जातवेदसं) सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वाधार (देवं) अग्निदेव को (केतवः) किरणें, ज्ञान, संसार के रत्न ( उद्वहन्ति ) उठाए उठाए फिरते हैं। (विश्वाय-दृशे ) इसलिए कि विश्व उसको देख सकें ( केतवः ) किरणें ( सूर्य ) उसे सूर्य रूप में ( उद्वहन्ति ) प्रकट कर रही हैं ; उसकी ज्योति उठाए उठाए फिर रही हैं।

भावार्थ—एक ईश्वरके उपासक के लिये, जिसने अपने कई वर्ष के निरन्तर स्वाध्याय, संध्या व तपादि के पश्चात्, जबकि उसने जड़ चेतन संसार के पदार्थों को वास्तविक रूप में देख लिया है, और सब दिशाओं में अपनी ज्ञान दृष्टि से चक्कर काट चुका है, ईश्वर की सत्ता अब संशयरहित है।

अब वह जगत्कर्त्ता ईश्वर को (करतलन्यस्त आमलक-वत्) जैसे हाथ में रखे आमला को स्पर्श करते हैं, ऐसे वह आत्मा द्वारा ईश्वर को देखता है। तब उपरिलिखित मंत्र द्वारा अपने भाव प्रकट करता है।

इस जड़ तथा चेतन संसार की प्रत्येक वस्तु, इस का रूप रंग और गति पृथिवी से ले कर सूर्य पर्यन्त अर्थात् पत्ता-पत्ता उस प्रभु की झंडियां हैं (पताका हैं) जो उस जगत् माता को ऐसे दर्शा रही हैं, जैसे मार्गादि दिखाने के मार्ग सूचक चिह्न (साइनबोर्ड); किसी नगर का, अथवा स्थान, व (वीथिका) दूकान के नाम व स्वामी का बोध कराते हैं। जिससे कि मनुष्यमात्र व विश्व, उसको प्रत्येक समय, प्रत्येक स्थान पर, प्रत्येक अवस्था में देख सके और उस जगत् स्वामी को भूल न जावें।

इसके अतिरिक्त वेद शास्त्र तथा ईश्वरदर्शी महात्मा भी निश्चय पूर्वक यह बतलाते हैं:—

(१) जीव तथा ईश्वर में आकाश का भी भेद नहीं हैं, अर्थात् वे कभी पृथक् नहीं होते हैं।

(२) जैसे दांतों के जिह्वा निकट है, और आंख तथा पुतली का भेद नहीं है, वैसे ही जीव और परमेश्वर का अंतर नहीं है।

(३) जीव और ईश्वर का परस्पर पिता पुत्रवत् संबन्ध है।

(४) फिर यह भी बतलाया जाता है, कि ईश्वर सुख, आनन्द का स्रोत है, वहां दुख का लेश भी नहीं है, अर्थात् सुख तथा आनन्द उसके स्वाभाविक गुण हैं।

तो अब प्रश्न होते हैं—

(१) जबकि ईश्वर और जीव में आकाशकृत भेद नहीं है,

वे सदा साथ ही रहते हैं, और ईश्वर सर्व व्यापक है, तो पुनः हम जीवों को दृष्टि में क्यों नहीं आता है ?

(२) जब हम सब प्राणियों का ईश्वर के साथ पितृ पुत्र वत् संबन्ध है, और वह सुखस्वरूप अर्थात् सुख आनन्द का स्रोत है तो वह मातृ-पितृवत् स्वयं अपनी संतान प्राणिमात्र को सुख आनन्द स्वरूप क्यों नहीं बना देता है तथा हम सब प्राणी उसके अति निकट होते हुए भी, उसके आनन्द गुण से क्यों वंचित रहते हैं ?

संसार के प्राणियों को दुख क्यों होता है, तथा वह दुख कहां से आता है, अर्थात् मातृवत् ईश्वर संसार के सब प्राणियों के दुख दूर क्यों नहीं कर देता है ?

संसार में हम प्रति दिन घोर संग्राम व युद्ध देखते हैं, उसकी प्रजा, संतान आपस में युद्ध कर रही है, एक जाति व व्यक्ति दूसरों को मृत्यु के घाट उतार रहे हैं, लूट रहे हैं। निरपराधियों, बच्चों तथा स्त्रियों को कष्ट दिये जा रहे हैं, संसार में बुराई पाप की वृद्धि हो रही है।

वह जगन्माता प्रभु इस उपद्रव को देख कर किस प्रकार से चुप है ? एक सांसारिक माता भी अपनी संतान को लड़ते देख कर बीच में पड़ कर यथाशक्ति उपद्रव को बन्द कराने का यत्न करती है। अपनी अप्रसन्नता प्रकट करती है, और दंड देकर भी दो भाइयों की लड़ाई को बन्द कर देती है। परन्तु वह जगदीश्वर सर्व सामर्थ्य, रखते हुए, अपनी प्रजा में

इतने घोर उपद्रव तथा पाप दोष को प्रत्यक्ष वृद्धि को पाते हुए देख कर भी इस प्रकार से चुप है, जैसे सांसारिक अल्पज्ञ माता अपने पुत्रों की लड़ाई देख कर व पाप के कीचड़ में, गिरते हुओं का नाटक देख कर प्रसन्न होती है।

जिससे यह संदेह होता है कि कोई सृष्टि रचयिता जगन्माता ईश्वर नहीं है, यदि है, तो वह भी सांसारिक अल्पज्ञ माता के सदृश है। क्योंकि अग्नि के समीप होने पर भी अग्नि का गुण ताप, प्रकाश, अवश्य ही निकट वस्तु में आ जाता है, किन्तु ईश्वर का आनन्द गुण जीव में अति निकट होने पर नहीं प्रतीत हो रहा है।

(३) संसार का प्रत्येक पदार्थ उसको प्रत्यक्ष दर्शा रहा है। अथवा सांसारिक वस्तुएं झंडियों ( केतु ) ( साइनवोर्ड ) के रूप में प्रकट होकर उसकी ओर संकेत कर रही हैं।

उत्तर—(१) ईश्वर इन चर्म चक्षुओं का विषय नहीं है। यदि चर्मनिर्मित चक्षुओं का विषय होता, तो बिल्ली आदि पशु उसको अधिक स्पष्ट देख सकते थे और उनकी अवस्था हमसे उन्नत होती, किन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि ईश्वर ज्ञान रूपी तृतीय नेत्र का ही विषय है। और वह तृतीय नेत्र मनुष्य को ही प्राप्त है। मनुष्य ही यत्न करके शिक्षा लेकर निरन्तर अभ्यास करते हुए, विधि पूर्वक ज्ञान नेत्र से ध्यानपूर्वक उस प्रभु का साक्षात् कर सकता है। और संसार के प्रत्येक पदार्थ अर्थात् पत्ते-पत्ते और प्रत्येक गति ( क्रिया ) में उसको देखता

है। जैसाकि महापुरुषों का कथन है कि—

भूतेषु भूतेषु विचित्यधीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता-भवन्ति।

इस बात को विचार करके ईश्वर सर्वत्र है, सब के निकट है, फिर भी मनुष्य उससे पृथक रह कर दुखी है; कबीर जी ने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है—

पानी में भी मीन पियासी, मोहे देखत आवत हांसी।
सत् सागर नित भरो रहत है, जिस विन रहत निराशी॥
कस्तूरी मृग बन में खोजत, सूंघ फिरत है घासी।
जोगी होकर फिरे जंगल में हर दम फिरै उदासी॥
आतमज्ञान विना नर भटकत, कोऊ मथुरा कोऊ काशी।
कहत कबीर सुनो री लोई, हरि बिन कटत न फांसी॥

कबीर जी कहते हैं कि—जैसे पानी में मछली है, परन्तु वह प्यासी होकर इतस्ततः भटक रही है, और दुखी हो रही है। क्योंकि पानी उस के जीवन का आधार है। जैसे यह एक आश्चर्य है कि पानी के अति निकट होते हुए भी मछली पानी से वंचित है तथा दुखित है, वैसे ही जीवात्मा मनुष्य शरीर में, जहां ज्ञान चक्षु व आत्मज्ञान के साधन उपस्थित हैं, ईश्वर के सदा अत्यन्त समीप होने पर भी, उस अपने जीवनाधार के आनन्द गुण से रहित कैसे दुखी हो रहा है। यही आश्चर्य है। अब प्रश्न होता है कि कष्ट का हेतु क्या है, तथा मछली पानी के भीतर रहती हुई भी कैसे प्यासी रह सकती है। पाठक वृन्द, इसका उत्तर यह है—

जैसे आटे में खांड मिला कर, किसी व्यक्ति ने गोलियां बना कर नदी में डाल दीं। मछली ने उन में से एक गोली अपने मुख में डाली है, उसको मीठी लगने पर चूसने लगती है, उस गोली को न तो पेट में भीतर ही ले जाती है और न बाहर ही उसे निकालती है। अब जब तक गोली उस के मुंह में विद्यमान है, पानी उसके मुंह में नहीं जा सकता है, अतएव वह पानी से वंचित है, तथा अपने जीवनाधार के सर्वदा अत्यन्त समीप होने पर भी दुखित है। मीठे के कारण तृषा भी अधिक मात्रा में व्याकुल कर रही है। परन्तु पानी रुकावट के कारण अन्दर जा नहीं सकता है। अतएव इतस्ततः भटकती है और दुखित है। इसी प्रकार मनुष्य जन्म प्राप्त जीव भी, संसार के क्षणिक तृप्ति कारक पदार्थों और विषय वासनाओं की संश्लिष्ट गोलियां, मन बुद्धि रूपी गले में प्रत्येक समय अन्तःकरण रूपी प्रभु के निकट पहुंचाने वाले स्थान में डाले हुए है। इसको न किसी समय छोड़ता ही है, और न इनको भुलाता ही है, और नाहीं निकाल कर अर्थात् इनको यथार्थ रूप से अपने उपयोग में लाकर संयम का जीवन व्यतीत करता है। पुनः यह भी जानता है कि यह रुकावट यथार्थ में मेरे जीवन का आधार नहीं है, सदा साथ नहीं रहेंगे, मीठे की गोलियों के सदृश अस्थिर, कुछ काल के पीछे स्वयं भी गल सड़ जायेंगे, परन्तु इन गोलियों से किसी समय किसी अवस्था में स्वयं पृथक होकर, उस प्रभु के आनन्द रूपी जल को पीकर प्यास को

मिटाने का यत्न नहीं करता है।

अतएव यह दुखी है, और यही इसके दुख का वास्तविक कारण है तथा इसी अज्ञानता के कारण उस जगन्माता के दर्शन व सर्व दुख नाशक पीयूष रूपी दूध से वंचित हो कर मनुष्य अपनी अल्पज्ञता से पुकारता है, कि यह ईश्वर सर्वक्लेश अपहारक नहीं है और यही कष्ट इस अवस्था को प्राप्त हुए सर्व मनुष्यों को है।

इस क्लेश की निवृत्ति की विधि भी एक ही है। वह यह कि जीव जो अज्ञान व विषय विकारों के आवरण अपने तथा परमेश्वर के मध्य में खड़े कर लेता है, उनको दूर कर दे, और उसके साक्षात् दर्शन करके, भौतिक अग्नि के अति निकट होने के सदृश, उसके आनन्द रूपी मुख्य गुण का अधिकारी बन सके और सुख को प्राप्त होवे। जिसकी एक ही व्याधि हो उसकी चिकित्सा भी एक है। इसके विषय में एक महात्मा ने कैसा अच्छा कहा है—

ययोरेव समोदोषः परिहारोऽपि तयोः समः।

अर्थात् जिनमें एक ही प्रकार की त्रुटियें हों, उन त्रुटियों के दूर करने का साधन भी एक समान होता है।

(२) द्वितीय तथा तृतीय प्रश्न के प्रसंग में पुनः संकेत करके लिखते हैं—ईश्वर यदि सर्व व्यापक है तो कैसे? तथा वह सांसारिक माता के सदृश संसार के प्राणियों अर्थात् अपने पुत्रों के दुखों को स्वयं ही दूर क्यों नहीं कर देता है।

और संसार का प्रत्येक दृश्यमान पदार्थ उसको प्रकट करने के लिये किस प्रकार पताका ( केतु, झंडिया ) ओंकार रूप धारण किये हुये हैं।

उत्तर—इस प्रत्यक्ष दृष्टि में आने वाले संसार की तथा इसके अन्तर्गत सब वस्तुओं की व प्राणीमात्र के पञ्चभूतों से बने हुए सब शरीरों की जैसे तीन अवस्थायें हैं, १–स्थूल, २–कारण, ३–सूक्ष्म, वैसे ही संसार में एक ही भौतिक ( स्थूल ) अग्नि है, जिससे प्राणिमात्र लाभ उठाता है। मनुष्य-मात्र भोजन पका कर क्षुधा ( भूख ) का दुख मिटाता है—ताप कर शीत के दुख से बचता है। और यह अग्नि सर्व-व्यापक है, सबको सर्वत्र सर्वदा लकड़ी-कोइला आदि सर्व साधन, सम्पन्न होने पर मिल सकती है, साक्षात् की जा सकती है—और की जा रही है, किसी का पक्षपात नहीं करती है।

(क) यदि एक व्यक्ति की लकड़ी कोइला, उसके आलस्य प्रमाद व उसकी असावधानता के कारण गीले हैं और अग्नि शीघ्रता से प्रज्वलित नहीं होती है। दूसरे व्यक्ति की अग्नि ( साधन अर्थात् लकड़ी, कोइला, शलाका आदि अनुकूल होने के कारण ) प्रज्वलित होती है।

(ख) दोनों के साधन अनुकूल या प्राप्त हैं, परन्तु यदि उनमें से एक व्यक्ति रोगी और निर्बल है। अतएव उठ नहीं सकता अर्थात् अग्नि प्रज्वलन क्रिया में असमर्थ है, हाथ नहीं उठा सकता है—दीप-शलाका रगड़ नहीं सकता है। अथवा

दोनों के स्वस्थ होने पर भी एक व्यक्ति के दोनों हाथ अपनी संदूकची व जेब में ही रहते हैं अपनी स्त्री से अति प्रेमवश उसके शरीर ही से चिपटे रहते हैं। इन स्थानों से आसक्ति के कारण दूर करने का लेशमात्र यत्न नहीं करता है। पुनः यदि उसकी अग्नि न जले, भोजन न बने, शीत न हटे और दुखी होता रहे, तो क्या अब इस अवस्था में अग्नि की सर्वव्यापकता का भंग कोई भी कर सकता है। क्या ऐसे व्यक्ति के दुख का कारण अग्नि को कहा जावेगा। अथवा अग्नि को मूर्ख तथा पक्षपाती कहा जावेगा या रोगी निर्बल आलसी मनुष्य को ?

अग्नि का दाह ( जलाना ) भी गुण है। किन्तु अग्नि का इसमें क्या अपराध है, यदि मनुष्य, अपनी अज्ञानता वा असावधानता से अग्नि के सदुपयोग को न जानकर अपने गृह ( घर ) व वस्त्रादिकों को जला लेता है। वैसे ही मनुष्य प्रभु के गुणों को न जान कर तथा उनको सदुपयोग में न लाकर अपने दुष्कर्मों से दुख ही दुख उठाता है।

(२) सूक्ष्म अग्नि को संसार में विद्युत्, बिजली या (इलैक्ट्रिसिटी) कहते हैं। यह भी जहाँ सर्व व्यापक है, वहाँ प्राणिमात्र को प्राप्त है। सर्व जड़ चेतन सृष्टि के, बाहर भीतर विद्यमान हैं। दूर नहीं, अतिनिकट है, कोई व्यक्ति कहीं हो, किसी जाति का हो, धनी हो वा निर्धन, राजा हो, व प्रजा हो या रंक जो भी अपने हाथों को मिलाकर रगड़े, उसके हाथ गरम हो जाते हैं। और यह एक अग्नि व विद्युत् का

गुण है। यद्यपि इस क्रिया से उत्पन्न अग्नि व विद्युत् हमारी चर्म चक्षुओं से दृष्टिगोचर नही होती, तथापि ज्ञान चक्षु से उसका अनुभव होता है कि अतिनिकट प्राप्त होते हुए लाभ हो रहा है, विद्युत् रूपी अग्नि जल, वायु, पृथिवी तथा आकाश सर्वत्र विद्यमान है; अतएव सर्व मनुष्य उससे विशेष लाभ अर्थात् प्रकाश, तापादि ग्रहण कर सकते हैं। उसकी शक्ति से संसार के कर्मों में उचित सहायता लेकर उन्नति कर सकते हैं। नाना प्रकार की कला-कौशलों के साधनीभूत अनेक यन्त्रादि (मशीन) चला सकते हैं, विद्युत् किसी का पक्षपात नहीं करती है, सब के लिये समान है। यदि कहीं न्यूनता से दृष्टिगोचर होती है, तो किसी व्यक्ति व जाति की योग्यता, पुरुषार्थ अथवा साधनों की न्यूनता व अज्ञानता के कारण है। विद्युत् रूपी अग्नि की कहीं भी न्यूनता नहीं है, जाति, व्यक्ति, देश और राष्ट जितनी विद्युत् चाहे ले सकता है। एक के अधिक लेने से दूसरे के लिये वह न्यून नहीं हो जाती है। विद्युत् निर्माता ईश्वर के कोष्ट (भंडार) में इसकी कमी नहीं होती है। और न इस विद्युत् का प्रदाता परमेश्वर किसी के लिये कृपणता करता है, और न किसी प्रकार की रुकावट करता है।

यदि किसी व्यक्ति का बिजली का बल्व थोड़ी शक्ति का है। या इसके ऊपर मल विक्षेप पड़ा हुआ है, उसे स्वच्छ नहीं किया गया है, अथवा किसी नगर का विद्युत् केन्द्र (पावर-

हाउस ) यन्त्र का इञ्जन थोड़ी शक्ति का है, या यन्त्र ही बिगड़ा हुआ है । अथवा वहाँ की प्रबन्ध कर्तृ शक्ति अधिक शक्ति वाले बल्ब के लगाने का अधिकार ही नहीं देती है, तो यदि कोई व्यक्ति ऊपर कहे गये कारणों से अधिक शक्ति, ताप व प्रकाश नहीं ले सकता, अथवा उससे सर्वथा वंचित हो रहा है, तथा इस कारण से कोई व्यक्ति या नगर प्रकाश और ताप आदि के न मिलने से कष्ट पाता है, अपनी सांसारिक आवश्यकताओं को पूरा न करता हुआ अन्धकारादि के कारण ठोकर आदि का अनुभव भी करता है । ऐसी अवस्था में इस दुख का कारण विद्युत् का अभाव या विद्युत् की निर्बलता अथवा उसका पक्षपात नहीं कहा जा सकता । और न उसके निर्माता को ही अल्पज्ञ, निर्बल, दयाहीन, पक्षपाती इत्यादि विशेषणों से ही पुकारा जा सकता है । वास्तव में बिजली सर्वत्र एक है, एक जैसी तथा सर्व स्थान में पूर्ण शक्ति वाली है ।

बिजली प्रत्येक व्यक्ति के घर व कमरे में पूर्ण है, किन्तु हमारी चर्म चक्षु किसी स्थान पर न्यून तथा किसी स्थान पर अधिक दिखलाती है, जोकि मनुष्य के अज्ञान आलस्य असावधानता अथवा अयोग्यता के कारण है ।

जो मनुष्यों में छोटे बड़े या घृणा आदि का भाव उत्पन्न करके जातिओं के कलह व कष्ट आदि का कारण बनती है । इसलिये मनुष्यों में व जातिओं में कलह वैमनस्य आदि कष्टदायक उपद्रवों का उत्तरदायित्व तथा सुख आनन्द के

अभाव और न्यूनता का भार भी जगन्माता परमेश्वर के ऊपर आरोपित नहीं किया जा सकता है।

(३) तीसरी इस संसार में आध्यात्मिक अग्नि, जो कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों अग्नियों का भी कारण है। यह अग्नि भी सर्वव्यापक है, किन्तु चेतन है, चेतन गुण ही इसका दोनों अग्नियों से भेदक विशेष गुण है। जिसकी शक्ति वा प्रकाश से सर्व नक्षत्र मंडल, अर्थात् अगणित सूर्य चन्द्र आदि प्रकाशमान हैं, और नियमपूर्वक गति करते हैं। सब प्राणी जिससे प्राण रूपी शक्ति लेकर जीवित हैं, तथा सब प्रकार की क्रिया करते हैं। यही आध्यात्मिक अग्नि है, और इसी को ईश्वर और जगन्माता कहते हैं।

यद्यपि यह अग्नि भी इन भौतिक चक्षुओं से दृष्टि पथ में नहीं आती है, तथापि यह भी विद्युत् के समान सर्वत्र सब के बाहर भीतर होकर सब को समान रूप से उपलब्ध है, और मनुष्य मात्र को उसके आनन्द गुण की प्राप्ति का समान अधिकार है। किसी के लिये वहां पक्षपात व बाधा नहीं है। क्योंकि वह आध्यात्मिक अग्नि रूप परमेश्वर भी सर्वव्यापक तथा अपने अनन्त आनन्द गुण से सर्वत्र परिपूर्ण है। अतएव यह आनन्द गुण उस का सबके लिये सदृश है—सब को सब स्थान पर समान रूप से प्राप्त हो

सकता है। क्योंकि गुण गुणी का साहचर्य नियम है। अर्थात् गुण गुणी से कभी पृथक् नहीं होता है, सर्वथा साथ ही विद्यमान रहता है। जैसे स्थूल अग्नि तथा सूक्ष्म अग्नि (विद्युत्) के प्राप्त करने की विधि व प्राप्ति के साधन मनुष्य मात्र अर्थात् काले गौर, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, बौद्ध आदि के लिये एक ही हैं। वैसे ही इस सृष्टि क कारण चैतन्य आध्यात्मिक अग्नि, ईश्वर का आनन्द गुण तथा मुक्ति के प्राप्त करने के साधन विधि भी सब के लिए एक से ही होने चाहिए तथा एक से हैं भी। जैसे मनुष्य शरीर व जगत् की तीन अवस्थाएं स्थूल, सूक्ष्म और कारण ऊपर वर्णन की गई हैं। वैसे ही जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा फल वृक्ष और बीज, सब के लिए समान रूप से ही दृष्टिगोचर हो रही हैं, इनमें भी किसी देश, काल व जाति का कोई भी भेद नहीं है। उसी प्रकार मनुष्य पशु पक्षी तथा वनस्पति वृक्ष आदि के रोगों की भी तो यही अवस्थाएं हैं।

प्रथम—रोग की अदृष्ट अवस्था—अर्थात् कारण अवस्था। रक्त का दूषित होना—वात, पित्त व कफ की न्यूनता या अधिकता आदि।

द्वितीय—सूक्ष्म कारण ग्राही (कब्ज़ी) कण्डू (खारिश) जिह्वा का मलिन होना या उसकी अधिकता तथा नाड़ी की

गति का ठीक न होना। शरीर में भारीपन, आलस्य का होना, अंगों का टूटना आदि।

तृतीय—स्थूल प्रत्यक्ष कारण—फोड़ा फुन्सी का निकल आना—ज्वर से शरीर का उष्ण हो जाना तथा शरीर के किसी अंग का कार्य करने में असमर्थ हो जाना, निर्बल हो जाना, अथवा उदर व मस्तिष्क आदि में पीड़ा आदि से दुखी होकर अपने कार्य से वंचित रह जाना। ये अवस्थायें भी सब जगत् के लिये सदृश ही हैं। यद्यपि स्थूल अवस्था में किसी वृक्ष के रोगी फल को उसके प्रत्यक्ष चिह्नों से देख कर तथा उसी प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकों के रोग के साक्षात् चिह्नों को देख कर, एक साधारण व्यक्ति भी जान लेता है कि यह वृक्ष, मनुष्य, पशु आदि प्राणी, रोग से ग्रस्त हैं, तथापि प्रत्येक व्यक्ति उस रोग के वास्तविक कारण को नहीं जानता है और न उस की चिकित्सा करके रोग को निवारण करके रोगी को स्वस्थ कर सकता है। यह किसी पूर्णतया निपुण माली, वैद्य अथवा डाक्टर का काम है कि रोग के निदान को समझ कर वास्तविक चिकित्सा द्वारा रोग से रोगी को मुक्त कर के उसे स्वास्थ्य प्रदान कर सके। किन्तु विचार यह होता है कि वैद्य के केवल रोग के कारण मात्र को जान लेने तथा उसके लिये औषध व प्रयोग पत्र (नुसखा) लिखने मात्र से क्या रोग की निवृत्ति हो सकती है वा रोगी रोग से मुक्त हो सकता है? चाहे वैद्य अपने कार्य

में कितना ही सुयोग्य हो और उसके द्वारा लिखा हुआ नुसखा भी कितनी ही सावधानी पूर्वक हो जब तक कि रोगी व उसके संरक्षक औषधियों को ठीक ठीक मात्रा में मिलाकर ठीक ठीक उपचार के साथ प्रयोग करें या करावें—नियम पूर्वक औषधि के सेवन तथा संयम के बिना रोग की निवृत्ति नहीं हो सकती है, उसी प्रकार वैद्यों के वैद्य, सृष्टि निर्माता परमेश्वर के सर्वव्यापक होने से तथा उसके ज्ञान रूपी औषध प्रयोगपत्र ( नुसखे ) मात्र के उपस्थित होने से और ऋषि महात्माओं के उपदेश मात्र के होने पर कोई देश, जाति व व्यक्ति अपने विकारों को एक मूर्ख अनियमित रोगी के समान—उन उपदेश रूपी नुसखों से लाभ न उठाकर—अपने रोग व विकारों की निवृत्ति न करके दुखी होता रहे, इस दुख में अथवा इस दुख के कारण से परमेश्वर को उत्तर-दायी किसी भी अवस्था में नहीं ठहराया जा सकता है।

सूर्य के बिना हमारी अर्थात् प्राणीमात्र की चक्षु देखने के कार्य को नहीं कर सकती है—यह नियम सर्वत्र प्राणीमात्र के लिये समान ही है। इससे यह सिद्ध हो रहा है, कि जिसने सूर्य का निर्माण किया है, उसी ने सब की चक्षुओं की रचना भी की है। और यह सम्बन्ध अनादि अर्थात् सृष्टि रचना काल से चला आ रहा है। इसमें देश, काल व जाति आदि का किञ्चित् भी पक्षपात नहीं हैं, सबके लिये एक ही है। यही साधन व्यक्तिओं में एक दूसरे से जानकारी प्रेम

तथा ज्ञान कराने का है। सांसारिक वस्तुओं को देखकर और उनका यथार्थ बोध करके उनसे सुख प्राप्त करने का यही साधन तथा विधि मनुष्यमात्र के लिये है।

(२) जो इसके विपरीत चलकर अन्धकार में अथवा अज्ञान के कारण सूर्य तथा चक्षु के साथ सम्बन्ध न करके जो कष्ट प्रतीत होता है, यह भी सब के लिये एक जैसा है अर्थात् धनी, निर्धन, काले गोरे वर्ण तथा हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सबके लिये कोई पृथक् पृथक् विशेष प्रबन्ध व नियम इस कष्ट से छूटने का नहीं है—प्रकृति अथवा ईश्वर की ओर से इस विषय में कोई पक्षपात नहीं किया जाता है। नियम को सर्वसाधारण विषयक होने से अतएव ज्ञाननेत्र व विद्या द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के साधन तथा विधि भी मनुष्य-मात्र के लिये समान ही होनी चाहिए और परीक्षण से वह एक ही प्रतीत हो रही है, इसके अतिरिक्त सृष्टि रचना में, कहीं भी प्राणीमात्र के लिये—प्रभु ने भेद से अथवा पक्षपात से कार्य नहीं लिया है कि अमुक जाति देश व व्यक्ति के लिये भिन्न साधनों से कार्य लिया हो और अमुक देश जाति व व्यक्ति के लिये दूसरों से। अतः संसार के कष्टों का कारण प्रभु से बताये हुए साधनों की एकता के न मानने में है, इसके अतिरिक्त दुख का कारण दृष्टिगोचर किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता है—इसलिये वही व्यक्ति ईश्वर का सच्चा भक्त तथा पूज्य है, जो प्रभु की प्रजा में सृष्टि रचना के अनुकूल एकता का प्रचार वा उपदेश करता है।

संसार में क्लेश, ममताभाव अर्थात् द्वैत के प्रचार के कारण है, जोकि संसार में स्वार्थवश होकर किया जाता है। अतएव यह जगत् प्रचलित कलह ईर्ष्या द्वेष वैमनस्य प्रभु की ओर से नहीं है, किन्तु उन व्यक्तिओं का है, जो ईश्वर क नाम से पृथक् पृथक् मत प्रचलित करके भिन्न भिन्न साधनों द्वारा अपनी व अपने सम्बन्धियों की पूजा कराते हैं; तथा स्वार्थवश सृष्टि नियम का उलङ्घन करके, अपना कल्पित सिद्धान्त स्थिर करके जनता में यह भेद करके, एकता से पृथक् कर देते हैं।

जैसे किसी इञ्जन से ठीक तथा दीर्घकाल तक कार्य लेने की विधि सब मनुष्यमात्र के लिये एक ही है। इञ्जन के निर्माण में अग्नि, वायु, जल, लोहा आदि का यथाविधि उपयोग लेना सब के लिये समान ही है। तथा उससे कार्य लेने के लिये वाष्प (स्टीम) उत्पन्न करने तथा उसके पुर्जों में तेल डालने और इञ्जन की गति के संचालक परमावश्यक वाष्पादि के छिद्रों को बन्द करके उस वाष्प को धुरे पर (ऐक्सल) डालकर इञ्जन को चालू करके लक्ष पर पहुँचाने की विधि भी सब के लिये एक ही है। यदि किसी व्यक्ति का इञ्जन नहीं चलता है, अथवा कुछ दूरी चल कर बिगड़ जाता है वा अल्प समय (आयु) चलता है, इन्हीं सब कारणों से लक्ष्य पर न पहुँचता व विलम्ब से पहुँचता है तो उस मनुष्य को विचारना चाहिये कि उस मनुष्य ने, अग्नि, वायु, जल, लोहा आदि इञ्जन के बनाने के कारणों के मिलाने में न्यूनता

की है, अधिकता से कार्य लिया है या इञ्जन के तथा वाष्प के ठीक तय्यार हो जाने पर भी अन्य साधनों को यथार्थ रूप से नहीं जाना है। अर्थात् जिन नालिकाओं से धुरे तक वाष्प का यातायात है, उनको ठीक नहीं रक्खा है। वाष्प लक्ष्य पर पहुँचने से पूर्व ही निकल जाती है, पुनः ऐसी अवस्था में इञ्जन का गति न करना व विलम्ब से चलना मनुष्य की अपनी ही असावधानता है। विधि में तथा साधनों में कोई अन्तर नहीं है।

ऊपर प्रदर्शित विधि के अनुसार इञ्जन के बनाने चलाने व लक्ष्य पर पहुँचाने का प्रकार मनुष्यमात्र के लिये समान ही है। यदि कोई भेद है तो मनुष्य के पुरुषार्थ ज्ञान उपयोगिता व सामर्थ्य आदि की न्यूनता से है। वैसे ही मनुष्यमात्र की उन्नति तथा आध्यात्मिक ज्ञान, पूर्ण आनन्द, मुक्ति की प्राप्ति के लिये ईश्वरीय ज्ञान, सब के लिये, आदि सृष्टि से एक ही है।

दृष्टान्त—(२) संसार में चार प्रकार के रत्न हैं यथा अथर्ववेद, चरक, सुश्रुत, कौटिल्यशास्त्र आदि में भी वर्णित हैं।

(क) प्रथम खनिज; अर्थात् पृथिवी के गर्भ कानों आदि से निकलती है। जैसे सुवर्ण-रजत ( चांदी ) ताम्र, लोहा, अभ्रक, शीशा ( सिक्का ) सुरमानी मलाई तथा इनसे बनी हुई भस्में जो कि समयानुकूल रोग की निवृत्ति का कारण बनती हैं।

(२) सामुद्रिक अर्थात् जो मणियें समुद्र से निकलती हैं जैसे मुक्ता, शंख-कदर्प ( कौड़ी ) शुक्ति-रक्तमुक्ता आदि, जोकि शृङ्गार के कार्य में भी आती हैं तथा औषध निर्माण के कार्य में भी लगाई जाती हैं।

(ग) प्राणिज—अर्थात प्राणियोंमें प्राप्त होने वाला—जैसे शेर,हस्ती,गेंडा,रीच्छ, सर्प, हिरण आदि की चर्बी-(मज्जा) हड्डी चर्म-नख, कस्तूरी आदि—जोकि समयोचित रीति से रोग नाशक हैं, शरीर पर रगड़ कर मर्दन करने से जहाँ लाभ पहुँचता है, वहां इनसे धनुष-तलवार-छुरी आदि के पकड़ने के हस्ते ( दस्ते ) भी बनते हैं।

(घ) वनस्पतिज—अर्थात् वृक्षों और वनस्पतियों से उत्पन्न होने वाली, इनकी मूलें, पत्र, पुष्प, लकड़ी, रस, सुगन्धी आदि रोगनाशक हैं तथा क्षुधा तथा तृषा जन्य कष्ट को दूर करने वाली हैं।

इन सब ईश्वरीय रत्नों के सदुपयोग द्वारा लाभ उठाने का ज्ञान तथा रोगनिवृत्ति का ज्ञान जो इनके भीतर विद्यमान है। उस ज्ञान में तथा उस ज्ञान द्वारा लाभ उठाने में भी कोई भेदभाव किसी व्यक्ति जाति वा देश के लिये नही हैं। और न ये मणियाँ ही देश जाति व व्यक्ति के साथ किसी पक्षपात करती हैं। यह सर्व प्रत्यक्ष का विषय है, इसमें कुछ भी छिपा हुआ नहीं है। यदि कुछ भेद है तो यहाँ भी मनुय की अल्पज्ञता व साधनों की न्यूनता के कारण है।

पुनः, आत्मिक व दैवी ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति अथवा ईश्वरीय भक्ति के लिये पृथक् विधि प्रकार अथवा साधन किस रीति से हो सकते है।

ङ—पूर्वोक्तानुसार जैसे भौतिक अग्नि तथा सूक्ष्म अग्नि ( विद्युत् ) सर्वत्र एक ही है, और सर्व व्यापक है, सूक्ष्म अग्नि तथा व्यापक रूप अग्नि के लिये नियन्ता भी अति सूक्ष्म और सर्वत्र व्यापक होना चाहिये, तथा है भी "क्रियायाः कर्त्रधीनत्वात्" यह महात्माओं का कथन है। अर्थात् क्रिया कर्ता के अधीन होती है, जब उभय प्रकार की अग्निकी गति स्थूल तथा सूक्ष्म रूप से सर्वत्र विद्यमान है, तब कर्त्ता को भी सर्वत्र होना चाहिये, अन्यथा अग्नि की गति सर्वत्र नहीं हो सकती है, तथा कर्ता के साथ ज्ञान का होना आवश्यक है। तथा सर्वत्र होने से उस ज्ञान की प्राप्ति भी मनुष्य मात्र के ज्ञान की उपलब्धि का विषय होना चाहिये। इस विषय का निम्न दृष्टान्त से स्पष्टीकरण किया जाता है:—

१—यह स्पष्ट है कि अन्न से बल तथा बल से ज्ञान की उत्पत्ति तथा स्थिरता सब श्रेणियों में होती है। किसी के लिये कोई विशेष नियम नहीं है। निर्बलता में भूल, अज्ञान तथा दुख सर्वत्र एक जैसा है।

२—संसार में रोग हैं, उनके निवारणार्थ औषधियाँ भी विद्यमान हैं। औषधियों में रोग निवृत्ति के गुण भी उनकी उत्पत्ति काल से हैं, अर्थात् प्रारम्भ से हैं। अथवा यह समझना चाहिये कि जब से सृष्टि तथा उस में रहने वाले मनुष्य तथा

अन्य प्राणियों की उत्पत्ति हुई है। इससे यह भी निश्चित है, कि औषध और रोग का सम्बन्ध तथा रोग निवृत्ति का उपाय और ज्ञान भी प्रारम्भ से ही, उस सृष्टि निर्माता से ही, प्राप्त है। अतएव वह ज्ञान सर्वत्र एक ही है और सर्वत्र विद्यमान है चाहे, किसी वैद्य व डाक्टर को उपर्युक्त ज्ञान का बोध इस समय न हो, किन्तु यह ज्ञान सर्वदा से उपस्थित है, कभी भी इसका ह्रास नहीं होता है। ज्ञान गुण होने से गुणी में रहता है—गुणी परमेश्वर है, वह अनादि है, इसलिये तदाश्रय ज्ञान भी नित्य होना चाहिये। मनुष्य का ज्ञान अल्प है, उससे भूल भी होती है। अतः किसी रोग के निवारण की विधि व औषधि कोई डाक्टर व वैद्य समय पड़ने पर अपने ज्ञानानुसार अपने आविष्कार (ईजाद) बतलाता है, तो यह सब उसके ज्ञान से आविश्कार (ईजाद) नहीं कहा जा सकता है, किन्तु उसने तो, अपने ज्ञान से सर्व साधारण के लिये लुप्त विषय का फिर से प्रादुर्भाव किया है—आविष्कार (ईजाद) नहीं कहा जा सकता है। वास्तविक ज्ञान तो सर्वत्र नित्य व्याप्त परमेश्वर का ही है। यदि आज कोई व्यक्ति व जाति, दूसरे से इस कारण से घृणा करती है, तथा एक दूसरे को छोटा, व बड़ा समझकर ईर्ष्या, द्वेष व कलह आदि करती है, अथात् इस विचार से कि यह ज्ञान हमारा है, अथवा हमारी जाति का है, व हमारे नेता का है, यह सब मनुष्य तथा जाति की अज्ञानता का ही परिणाम है, क्योंकि यह ज्ञान भी उस ज्ञान-स्वरूप परमेश्वर का ही है। वही इस ज्ञान का स्रोत है, अत-

एवं वह ईश्वर मनुष्यमात्र का आदि गुरु है—इस विषय में पतञ्जलि ऋषि का सूत्र भी प्रमाण रूप से उपस्थित किया जाता है।

"सपूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"

अर्थात् सर्वज्ञ परमेश्वर सब विद्वानों का भी उपदेष्टा (गुरु) है। किसी भी समय में उस समय ज्ञान होने से संसार में मनुष्य जितने भी विद्वान् हुए हैं, वह समयानुसार नाश को प्राप्त हो चुके हैं, तथा होंगे, किन्तु परमेश्वर में ऐसा नहीं है। इस कारण से मनुष्य मात्र परस्पर गुरु भाई हैं तथा संसार में दुख, कलह, अहंकार, व घृणा उस जगत् गुरु अथवा उसके ज्ञान के न जानने से व परस्पर के गुरु भ्रातृ सम्बन्ध के न जानने से है; अथवा यथार्थ न जानने से है।

(३) एक नक्षत्र का दूसरे नक्षत्र के साथ जो सम्बंध है, सृष्टि के आदि से है तथा नित्य है। चाहे यह संबंध ज्योतिर्विद (खगोलविद्याविद् को) आज ही ज्ञात हो। वायु का संबंध प्राणि मात्र के फुफ्फुस (फेफड़ों से) से, तथा रक्त का हृदय से, भोजन का आमाशय से—सर्वत्र सब के लिए एक जैसा और नित्य है। इनके कार्य करने की विधि तथा उसका ज्ञान भी सर्वत्र सब के लिए समान ही है। एक बीज से वृक्ष और माता पिता की रज तथा वीर्य की दो बिन्दुओं से वैसे ही आकृति वाली संतान का उत्पन्न होना, उसकी विधि और ज्ञान में भी कोई भेद नहीं है। एक हाथ लंबा नवजात शिशु किस प्रकार साढ़े तीन हाथ लंबा हो जाता है, और कैसे युवावस्था को प्राप्त कर के वृद्धावस्था को प्राप्त

हो जाता है। इसके लिये भी हिंदू, मुसलमान, ईसाई के लिए कोई पृथक् विधि व ज्ञान नहीं है। तथा न इन परिवर्तनों के होने में ईश्वर की ओर से कोई पक्षपात है।

(४) मनुष्यों के संकल्प, विकल्प तथा बोध प्रतिबोध अर्थात यथार्थ जानना व विपरीत जानना आदि ज्ञान की, मनुष्यों के शुभ संकल्पों की वृद्धि तथा विकल्पों के सुधारने की विधि भी सर्वत्र एक ही है।

(५) जब यह संसार की वस्तुएं अर्थात् ईश्वरीय रचना का संबंध तथा प्रबंध और उसका बोध भी सर्वत्र समान ही है। पुनः यह भी मनुष्य को ज्ञात है कि कोई प्रबन्ध बिना बुद्धि व ज्ञान के नहीं हो सकता है। भोजन निर्माण करने का एक चूल्हा भी बिना ज्ञान के नहीं बन सकता है। तो क्या यह अनादि संबन्ध और प्रबंध की अनिवार्य स्थापना बिना किसी नित्य तथा अनादि ज्ञान के हो सकती है? कदापि नहीं हो सकती। अतएव इस महती सृष्टि के संबन्ध और प्रबन्ध की स्थापना करने वाला भी सर्वज्ञ, चेतन होना आवश्यक है और यह सब कुछ उसकी बुद्धि तथा चैतन्य का ही परिणाम व विकास है। इसलिये जैसा कि प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि वह सर्वत्र है, सब का नियन्ता है तथा अद्वितीय है।

अतः उक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि उस प्रभु को जानने का ज्ञान वा उसकी सृष्टि रचना से सदुपयोग करके उसको प्रसन्न करने तथा उसकी प्रेम-मयी करुणा

का पात्र बनने का प्रकार वर्णन भी सब के लिये समान ही है, भिन्न-भिन्न प्रकार का नहीं है। और संसार में दुख की मात्रा जो अधिकतर दृष्टिगोचर हो रही है; उसका केवल यही कारण है कि मनुष्यों ने पूजा की विधियें स्वयं कल्पित, अनेकों स्वीकार कर ली हैं तथा जब तक स्वकल्पित अनेक पूजा की विधियां नहीं रोकी जावेंगी तब तक संसार में स्वार्थ की मात्रा की वृद्धि और उसका फल स्वरूप परस्पर प्रेम की न्यूनता होने से सांसारिक दुखों का साम्राज्य वृद्धि को प्राप्त होता जावेगा। किन्तु इस दोष का दोषी, दूषण रहित परमेश्वर नहीं हो सकता है, जबकि उसका पूर्ण निर्भ्रान्त ज्ञान, अनादि काल से सब के लिये एक ही है। परन्तु मनुष्य उस प्रभु के ज्ञान को छोड़ कर और उसके विपरीत अपने अल्पज्ञ ज्ञान से स्वार्थवश विपरीत कर्म करके दुखों को भोग रहा है।

प्रश्न ३—संसार के सब पदार्थ किस प्रकार से उसकी पताकायें व साईनबोर्ड हैं और किस ढंग से उसकी ओर संकेत करते हैं व किस प्रकार उस को दर्शाते हैं:—

उत्तर—(१) भौतिक अग्नि का सब से बड़ा पुञ्ज वा स्रोत अथवा प्रतिनिधि संसार में सूर्य है। यह उस सर्व व्यापक अग्नि का प्रत्यक्ष केतु ( झंडा ) है, अग्नि की ओर संकेत करता है व उसको दर्शा रहा है; उसके गुणों का

सब को ज्ञान करा रहा है । किसी के साथ भेद-भाव नहीं रखता है। सूर्य के गुण जैसे प्रकाश तथा ताप हैं, वैसे ही रंग रूप मय संसार उसी का है, यह सब स्पष्ट है। आधुनिक वैज्ञानिक भी यही मानते हैं कि संसार के पदार्थोंमें जो सात प्रकार के रंग दृष्टि में आते हैं, इन सब का उपादान कारण सूर्य ही है। क्योंकि सूर्य के अभाव में अर्थात् गूढ़ अंधकार में कोई भी रूप रंग प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिये जहां भी रूप रंग है, चाहे वह सूक्ष्म से पुष्प व पत्र का हो अथवा किसी पुरुष या स्त्री के शरीर उनके मुख, वस्त्रादि का हो। यह सब रूप रंग के कारण पदार्थों में जो आकर्षण प्रतीत होता है वह सब वास्तविक में सूर्य का ही है। अतः ये पत्र से लेकर महान् से महान् पदार्थ तक जो रूप रंग दृष्टिपथ में आ रहा है, वह सब सूर्य का ही प्रतिनिधि वा केतु (झंडी) है। तथा वह केतु रूप से अपने उपादान कारण सूर्य को प्रकट कर रहा है, उसकी ओर संकेत कर रहा है। यह भी सब के लिए प्रत्यक्ष ही है कि यह संपूर्ण द्युलोक चन्द्र नक्षत्रादि जो सूर्य के अभाव में रात्रि को प्रकाश करते हुए दीखते हैं; ये भौतिक अग्नि के प्रत्यक्ष पुञ्ज सूर्य से पृथक होकर, उसके आकर्षण तथा शक्ति से स्थिर हैं; और उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं। अतः ये सब सूर्य के ही प्रतिनिधि केतु वा अंश हैं; जो कि सूर्य के अभाव में रात्रि के समय सूर्य का स्मरण तथा उसके गुणों का ध्यान कराते हैं।

(२) संसार में पदार्थों का संयोग व वियोग हो रहा है, यह भी प्रत्यक्ष है। यह सब सर्वत्र समान ही है, परन्तु यह अग्नि के बिना नहीं हो सकता। यह अटल सिद्धान्त भी सब के लिए एक ही है। इसमें कोई पक्षपात नहीं है।

(३) जैसे एक तृण से लेकर सूर्य पर्यन्त, रूप रंग संसार में उस विशाल भौतिक अग्नि का है, और विद्युत् भी उस का सूक्ष्म रूप है। तो क्या मनुष्य यह नहीं देख सकता है व अनुभव नहीं कर सकता है, कि यह सारा विस्तार अर्थात् संसार के रूप रंग, संयोग, वियोग, आकर्षण, प्रेम, पवित्रता का कारण वही चैतन्य आध्यात्मिक अग्नि अथवा परमेश्वर है। चाहे वह किसी स्थान में व देश में क्यों न हो। पुनः क्या मनुष्य स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी, पुष्प, फल तथा समस्त विश्व का पत्ता पत्ता उस जगन्माता को दर्शाने की पताका केतव, व साइनबोर्ड नहीं हैं? क्या अपने निर्माता की ओर संकेत नहीं कर रही हैं? यही आध्यात्मिक ज्ञान है, तथा प्रभु की सच्ची भक्ति और उसकी पूजा है। इस दृष्टि का उत्पन्न करना ही सच्चा बोध व वास्तविक विद्या है, पुनः क्या यह हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, राजा, प्रजा, धनी, निर्धन के लिये भिन्न है? उस ज्ञान की प्राप्ति वा अनुभवों के साधनों में कोई अंतर है? अथवा ईश्वर ने किसी देश, जाति व व्यक्ति के लिए कोई भेदभाव रक्खा है? नहीं, किसी प्रकार का भी भेदभाव कदापि नहीं है।

(४) जैसे विद्युत् विश्व में सर्वत्र व्यापक और सब को

प्राप्त है, किसी देश व स्थान में न्यून अधिक रूप में नहीं है। यदि कहीं न्यूनता की प्रतीति होती है, तो वहां मनुष्यों की योग्यता व सामर्थ्य अथवा पुरुषार्थ की कमी है। विद्युत् अग्नि अपनी सर्वदा अपने शुद्ध स्वरूप में पूर्णतया अपनी अनन्त शक्ति के साथ विद्यमान रहती है। जहां कहीं भी विद्युत की अल्प शक्ति भी परमाणुओं से लेकर मनुष्य तक में स्थित है, वह सर्वत्र व्यापक अनन्त शक्ति का अंश मात्र है। उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य का अल्प ज्ञान भी उस ज्ञान पुञ्ज आध्यात्मिक अग्नि व ईश्वरीय ज्ञान का एक अंश है, और उसी जगदीश्वर का स्मरण कराता है। तथा उसी ज्ञान के केन्द्र ( स्रोत ) प्रतिनिधि केतु व झंडा है, जिस को मनुष्य विद्युत् के सदृश, जितना चाहे जगाए बढ़ाये उतना ही उस महान् शक्ति सर्वज्ञ ईश्वर को अपने हृदय व मस्तिष्क में ईश्वर का आह्वान करना व उसको स्थान देना है, अर्थात उसकी शक्तियों का अपने में ग्रहण करना है, तथा यही वास्तविक भक्ति और पूजा का सार है। इसी ज्ञान की उपलब्धि के लिये मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है। क्योंकि और किसी भी योनि में इस विशेष आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यही प्रत्येक माता, पिता, राजा, गुरु का कर्त्तव्य है। इस के बिना मनुष्य नाम मात्र का मनुष्य है। यथार्थ में वह पशु के समान है। इसी ज्ञान की न्यूनता के कारण मनुष्य जाति कष्ट व दुखों का अधिकता से भोग कर रही हैं, तथा सुख आनन्द वा प्रेम से पृथक होती जा रही है।

५. इस आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि के लिये कुछ काल से माता, पिता वा राष्ट्र की ओर से कोई प्रबन्ध नहीं है, और न आवश्यक ध्यान ही इस ओर आकर्षित है। ऊपर वर्णन किया भी सर्वत्र तथा पूर्ण रूप से विद्यमान है और सबके—आभ्यन्तर—तथा वाह्यस्थित है। परन्तु—जैसे विद्युत् के दीपक के लघु वा बड़े होने से अथवा दीपक के ऊपर आवरण के आने से अथवा विभिन्न रङ्ग के मोटे पा पतले कागजों के लगा देने से (चाहे शक्ति प्रत्येक दीपक समान ही क्यों न हो) भेद प्रतीत होता है अर्थात् किसी कमरे में आवरण के न होने से पूर्ण प्रकाश है और किसी में आवरण के होने से न्यून है, यथार्थ में कोई अन्तर नहीं है। वैसे ही मनुष्यों के अन्दर देशकाल तथा अज्ञान व भूल के कारण, तत्व ज्ञान में मिलाकर व भिन्नता हो जाने के फलस्वरूप मनुष्यों व जातियों में ईर्ष्या द्वेष व कलह अथवा उच्चता व नीचता का विचार उत्पन्न होकर प्रम के अभाव का दूषण ईश्वर व उसके ज्ञान के आश्रित नहीं माना जा सकता है।

६. जो मनुष्य इस आध्यात्मिक अग्नि रूप ईश्वरीय ज्ञान का साक्षात्कार अर्थात् अनुभव कर लेता है, और विद्युत् के समान उसकी पवित्र शक्ति उपयोग में लाने लगता है। "इसमें उपनिषद् का मन्त्र भी प्रमाण रूप से उपस्थित किया जाता है (भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः, क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे) अथात् उसके

हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है तथा सब सन्देहों का नाश हो जाता है और उसके सम्पूर्ण अशुभ कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। उस परमेश्वर के देखने अर्थात् साक्षात् करने पर तो वह जो वस्तु जैसी है उसको वैसी देखता अथवा अनुभव करता है। अर्थात् प्रत्येक रूपरंग प्रकाश, ताप-ज्ञान, व आकृति संयोग तथा वियोग आदि अवस्थाओं को जिस स्थान पर भी देखता है, वहाँ उसको जगन्माता परमेश्वर का ही दर्शन होता है। जैसा कि कबीर जी का अपना अनुभव है।

"डाली तोड़ूँ न पत्ता तोड़ूँ न कोई जीव सताऊँ,
पात २ में प्रभु बसते हैं, मैं ताही को शीश निवाऊँ"

जिस प्रकार एक साधारण व्यक्ति भी अपनी सांसारिक माता के कार्य तथा हस्त कौशल को देख कर ( कसीदा ) अपनी माता की बुद्धि और ज्ञान का स्मरण कर माता की कई अन्य शिक्षाओं का चिन्तन कर अपना सुधार कर लेता है। और माता की शिक्षा अथवा आज्ञानुसार कार्य करके माता की प्रसन्नता का पात्र व अधिकारी बन जाता है। माता की निर्मित वस्तुओं की रक्षा तथा अपने भाई बहनों से प्रेम और सत्कार पूर्वक व्यवहार करना, अपना कर्त्तव्य समझता है। माता के पारिवारिक यज्ञ में सुगन्धित, आहुतिएँ डालकर—माता के गृह को सुखी और पवित्र बनाने में पूर्ण सहायक होता है। क्योंकि माता के तथा अपने पारस्परिक संबन्ध और उसकी

इच्छा को यथार्थ रूप से जानता है। वैसे ही जिस व्यक्ति तथा जाति को ईश्वरीय ज्ञान का प्रत्यक्ष हो और प्रत्येक रूपरङ्ग में ईश्वर का प्रत्यक्ष करता हो वह किसी स्त्री के रङ्गरूप को देख कर अपने मन को किसी भी अवस्था में मलिन नहीं कर सकता। इस प्रकार का ज्ञानी जीव प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान को ईश्वरीय ज्ञान का अंश समझता है, तथा ज्ञान के साथ ही ज्ञानी परमेश्वर को सब के अन्दर अनुभव करता है। पुनः वह संसार के किसी भी प्राणी को क्लेश किस प्रकार दे सकता है और किसी का अनिष्ट चिन्तन व घृणा किस प्रकार कर सकता है; अथवा किसी के भोजन संपत्ति आदि का अपहरण कर सकता है। ऐसा ज्ञानी तो संसार के प्रत्येक पदार्थ व प्राणी को अपने जन्मदाता की सम्पत्ति तथा संतान समझ कर उनकी रक्षा, और पालन-पोषण करना अपना कर्त्तव्य समझेगा जैसा वह अपने अङ्गों का पालन-पोषण करना कर्त्तव्य समझता है।

७—जैसे एक गृह का गृहपति तथा उसके परिवार के लोग उस गृह के प्रकाश के दीपक आदि पर पड़ी धूलादि को उतार कर स्वच्छ रखना अपने सुख कल्याण के लिये तथा गृहपति की संतुष्टि के लिये आवश्यक समझता है। वैसे ही एक आध्यात्मिक ज्ञानी इस संसार के किसी अज्ञानी भाई से घृणा तथा नीचता का व्यवहार करने के स्थान में, प्रेम और सत्कार का भाव प्रदर्शन करता हुआ उस अबोध, निर्बल तथा मलिनता से आच्छादित ज्ञान रूप दीपक को अपने ज्ञान से

किसी न किसी प्रकार से स्वच्छ करने का प्रयत्न करेगा। अतः एक विद्वान् दूसरे ज्ञानी भाई को स्वयं कष्ट सह कर भी ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित करना अपना कर्त्तव्य समझता है और इसे ही जगन्माता की प्रीति व भक्ति और प्रसन्नता समझता है।

इतिहास भी इस विषय का समर्थक है। इसी ज्ञान की उपलब्धि करने तथा कराने के लिये महापुरुषों ने भारी क्लेशों को सहन किया है अर्थात् विष पान किया। सूली पर लटकाए गये। जीवित जलाए गए। खड्ग (तलवार) के घाट उतारे गये। राज्य तथा ऐश्वर्य को छोड़ कर द्वार २ घूमते फिरे, किन्तु सत् ज्ञान के प्रचार से नहीं रुके। क्योंकि वे इसी सत् ज्ञान के प्रकाश व प्रचार में प्रभु प्रजा का कल्याण समझते थे। और यही केवल मात्र साधन मनुष्यों में प्रेम तथा सुख आनन्द से जीवन निर्वाह करने का है।

८—क्या संसार में यह सम्भव हो सकता है कि किसी के जीवन को समाप्त करके, अथवा घृणित व्यवहार से अपने से पृथक् करके उसकी अज्ञानता को दूर किया जावे। किसी दीपक को अपने से दूर हटा देने से, घृणा के कारण हस्त से स्पर्श किये बिना अथवा दीपक को विनाश कर देने से दीपक की स्वच्छता वा दीपक की प्रकाशता कम की जा सकती है। यदि यह असम्भव है तो प्रभु के बनाये मनुष्य शरीर रूपी मन्दिर का ज्ञानरूपी दीपक भी किसी व्यक्ति व जाति के शरीर रूपी मन्दिर को तोड़ देने से अथवा घृणित क्रूरतादि अपशब्दों के

व्यवहार से नष्ट करना भी नितान्त असम्भव है। इस प्रकार के अविवेक पूर्वक व्यवहार से अज्ञानमय अन्धकार दूर नहीं किया जा सकता अपितु इससे उसकी वृद्धि ही सम्भव हो सकती है। यही स्थिर सृष्टि नियम है, जिसमें न कभी परिवर्तन हुआ है न भविष्य में होना सम्भव है। अतः जो आधुनिक धर्मोपदेशक, चाहे वे काले हों व गोरे हों, अथवा उनका रहन-सहन, व वस्त्रादि किसी प्रकार के क्यों न हों, यदि वे उपरि लिखित त्याज्य साधनों से ज्ञान का प्रचार तथा ईश्वर की भक्ति व पूजा का प्रचार कर रहे हैं, तो वे ईश्वर की अप्रसन्नता के पात्र बन रहे हैं। और असंभव को संभव बनाने का दुःसाहस करके संसार के क्लेशों की वृद्धि के कारण बन रहे हैं।

६—यदि मनुष्य विचार से कार्य लेवे, तो उसको प्रतीत होगा कि उसका अपना शरीर भी विश्व का है। प्रत्येक प्राणी का शरीर पञ्च-भौतिक अर्थात अग्नि-जल-वायु आकाश व पृथ्वी से निर्मित है। यह पञ्चभूत भी सर्व व्यापक तथा सब के उपयोग और लाभ के लिये समान तथा आवश्यकीय हैं। प्राणी मात्र का शरीर अन्त में इन पञ्च भूतों में ही सम्मिलित हो जाता है। शरीरों की वृद्धि व ह्रास, सबलता अथवा निर्बलता, जीवन मृत्यु; इन्हीं पञ्चभूतों की वृद्धि वा न्यूनता पवित्रता, अपवित्रता इनके सुरक्षित रहने अथवा न रहने पर निर्भर हैं। इन पञ्च-भूतों का निर्माता तथा इनके मेल से प्राणीमात्र के शरीरों का रचयिता भी सबका ( सांझा ) है,

अर्थात् एक ही है। पुनः प्रत्येक मनुष्य का शरीर जो कि सृष्टि में उस जगत् रचयिता की सर्वोत्तम कृति है, सबका (साँझा) क्यों नहीं है? अवश्य है। अतः प्रत्येक प्राणी का शरीर विश्व का शरीर है, तथा इस विचित्र ईश्वरीय उत्तम सम्बन्ध के कारण प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह प्राणीमात्र के शरीर की अपने शरीर के समान रक्षा व पुष्टि करे। प्रत्येक प्राणी के दुःख व सुख को अपने शरीर के दुःख व सुख के समान समझ कर जीवन व्यतीत करता हुआ सब के साथ व्यवहार करे। इसी पवित्र भावना को थिर करके, मनुष्य, अग्नि जल वायु आकाश, पृथ्वी के समान तथा अपने पिता जगदीश्वर के सदृश जहाँ संसार मात्र का पूज्य बन सकता है, तथा देवता पद को प्राप्त कर सकता है। वहाँ प्राणी मात्र में प्रेम का सञ्चार करके संसार को स्वर्ग बनाता हुआ, जगत्-माता की करुणा तथा प्रेम का पात्र व सच्चा भक्त बन सकता है।

ऐसे तत्व ज्ञानी अर्थात् ज्ञान चक्षु से व्यवहार करने वाले व्यक्ति व जाति का न कोई शत्रु हो सकता है, और न वह किसी का शत्रु होता है।

पुनः दुःख वा कष्ट का किस प्रकार प्रादुर्भाव हो सकता है। समुद्रों में जहाज़ों को ठीक मार्ग पर चलाने तथा लक्ष्य पर बिना किसी त्रुटि के यथोचित समय पर पहुँचाने की विधि भी सब के लिये समान ही है। इसमें भी कोई जातीय भेदभाव पक्षपात नहीं है। सब जहाज़ वालों को अपने २

दिग्दर्शक यन्त्र ( कम्पास ) सुई का सम्बन्ध ध्रुवतारा के अनुकूल रख कर जिस दिशा को जितने मील जाना होता है, चल कर, आगे दूसरी दिशा निर्णय करके ही आगे जहाज़ को लेजा कर अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँचना होता है। क्योंकि ध्रुवतारा सदा स्थिर है तथा उत्तर दिशा को यथार्थ रूप से निर्दिष्ट करता है। अपने निश्चित स्थान से कभी इधर उधर नहीं होता है। अतः वह जातियों वा राष्ट्रों के जहाज़ों का सच्चा पथ-प्रदर्शक है। किन्तु स्थिर ध्रुवतारा भी उनको सच्चे पथ के दिखाने में तभी सहायक होता है, यदि मनुष्य से निर्मित उनकी अपनी दिग्दर्शक यन्त्र की सुई, और दूर दर्शक यंत्र ठीक हो। ऐसा होने से सभी व्यक्तियों व जातियों व राष्ट्रों का जहाज़ अर्थात् हिन्दू हो वा मुसलमान हो अथवा ईसाई हो जापानादि राष्ट्र का हो निर्विघ्न अभीष्ट लक्ष्य पर अनायास से पहुँच जाता है। यह स्पष्ट है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति वास्तविक दिक् सूचक ध्रुवतारा को छोड़ कर, अहंकार व अपलज्ञता के वशीभूत होकर भिन्न २ नक्षत्रों का आश्रय लेकर गति करे तब किसी व्यक्ति का भी जहाज़ अपने अभीष्ट लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकेगा। सम्पूर्ण पुरुषार्थ व्यर्थ ही हो जायगा। सारी आयु इधर उधर भटकते हुए तथा अशान्ति की अवस्था में ही व्यतीत हो जावेगी। कारण यह है कि ध्रुवतारा के अतिरिक्त सम्पूर्ण तारा स्थिर तथा दिक् के सूचक भी नहीं है। अतः वे दिशा का यथार्थ बोध कराने में सर्वथा सर्वदा असमर्थ हैं। और उस अस्थिर तारों का

आश्रय लेने वाला पोत ( जहाज़ ) भी अपने यथार्थ मार्ग पर गति नहीं कर सकता है। ना हीं, अपने अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति करके शान्ति का मार्ग बना सकता है। यही अवस्था वर्तमान युग के मनुष्य समाज की है। क्योंकि आधुनिक मनुष्य समाज ने अज्ञान के मूल अहंकार के आश्रित होकर उस एकमात्र सृष्टि के रचयिता अथवा प्रकृति के अनुकूल प्राकृतिक ध्रुव ज्ञान को छोड़ कर, परिवर्त्तनशील तथा अल्पज्ञ व्यक्तियों व उनके पृथक् २ प्रकृति के विपरीत ज्ञान का आश्रय लिया हुआ है। इस क्षणिक और अल्प ज्ञान से संसार में स्थिर सुख, शान्ति तथा उस ध्रुव जगदीश्वर के एक रस आनन्द के लक्ष्य को उपलब्ध करने की आशा करते हैं, जो कि सर्वथा असंभव है। इसी को उपनिषत्कार ने कठोपनिषद में इस रूप में स्पष्ट कर दिया है कि अध्रुव से ध्रुव की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है जैसे।

"न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्"

मनुष्य का कल्याण तो उसी ध्रुव एक ओंकार नाम वाले जगदीश्वर तथा उसके एकमात्र सृष्टि के प्रारम्भ में बताये हुये ध्रुव ज्ञान से होता आया है। तथा भविष्य में भी उसी प्रकार से होगा यह निश्चित है।

इसमें प्राणिमात्र के साथ समान रूप से बिना किसी भेदभाव से व्यवहार होता है। वह भेदभाव से वर्जित है।

सृष्टि के आदि में एक मनुष्य जाति ही थी और ईश्वर

प्रदत्त ध्रुव ज्ञान ( वेद ही ) सब का पथ प्रदर्शक था।

## दुःख वास्तव में सुख ही है

इस तत्व ज्ञान के ज्ञाता, तथा इसे क्रिया में लानेवाले व्यक्ति के लिये दुःख भी सुख प्रद है। यथार्थ में मनुष्य दुःख को स्वयं ही पैदा करता है अथवा स्वयं उसका परिग्रहण करता है। किन्तु अपनी विकृत बुद्धि के कारण यह दोष ईश्वर पर आरोपण करता है। प्राकृतिक नियम अटल हैं। जो व्यक्ति उन नियमों के अनुसार सृष्टि के पदार्थों से कार्य लेता है; उसके लिये सृष्टि प्रत्येक समय में सुख सामग्री प्रदान करती रहती है। परन्तु जो व्यक्ति उन नियमों का उल्लङ्घन व भङ्ग करता है, अथवा असावधानता से व्यवहार करता है; उसके लिये वर्त्तमान सृष्टि वा उसके पदार्थ दुःखदायी हो जाते हैं।

दृष्टान्त—जैसे एक मनुष्य अपने घर के आँगन में मीठे आम के बीज व गुठली लगाता है, तथा सावधानी से प्रयत्न करके, उस वृक्ष को फल प्रदान करने की परिस्थिति तक पहुँचा देता है। वह अपने लिये और निजी कुटुम्ब के लिये भी कई वर्षों तक मीठे आम स्वाद के भक्षण तथा क्षुधा को दूर करने के सुख को संपादन कर लेता है। अब इस व्यक्ति को इस सुख के लिये याचना प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है। केवल वृक्ष को स्थिर वा जीवित रखने तथा पोषण करने के साधनों को सुरक्षित रखने की आवश्यकता है।

ऐसे ही एक दूसरा व्यक्ति, जैसी गुठली वा जैसा बीज उसको मिल जाता है अपनी अल्पज्ञता व असावधानता से एक कटु अम्ल फल वाले वृक्ष को अपने आँगन में बो लेता है। परन्तु जब उस वृक्ष में कटु व अम्ल फल लगते हैं तो उन को भक्षण करके दुःखी होता तथा पश्चात्ताप करता है। यद्यपि तप व पुरुषार्थ दोनों का समान ही है। तथापि द्वितीय व्यक्ति ने यह दुःख अपनी अल्पज्ञता अथवा असावधानी से पैदा किया है। तथा मीठे आम के फल आस्वादन तथा क्षुधानिवृत्ति के सुख से वंचित है। इसमें ईश्वर तथा उस सृष्टि नियम का कुछ भी दोष नहीं है। यदि यह दूसरा व्यक्ति अपने अल्पज्ञता से किये हुये कर्म के परिणाम रूपी दुःख से शिक्षा ले तो यही दुःख रूप कर्म उसके लिये सुख रूप धारण कर सकता है। अर्थात् भविष्य में असावधानता से कटु अम्ल आदि बीज न बोए। अपितु देखकर मीठे आम के बीज बोए। और प्रथम बढ़े हुए खट्टे फल वाले को जड़से उखाड़ देवे। उस छेदन किये हुये वृक्ष के काष्ठ का भी सदुपयोग करे अर्थात् गृह निर्माण में लगावे उसे जला करके शीत को दूर करे। भोजन निर्माण करे। तथा पत्तों का खाद बनाकर नवीन बोए जाने वाले वृक्ष को फल वाला बनाए तो कुछ काल के पीछे अपने आँगन में बोये हुये वृक्षके मधुर फलों का आस्वादन करके सुख की उपलब्धि कर सकेगा। अतएव तत्त्वज्ञ पुरुष प्रत्येक प्राप्त दुःख से शिक्षा ग्रहण करता है। तथा उस दुःख को अपना शिक्षक गुरु व सुख दाता अनुभव करता

हुआ किसी क्लेश से दुःखित नहीं होता है। परन्तु इसके विरुद्ध अज्ञानी पुरुष कष्ट बाधाओं के आने पर रोदन करता है, स्वयं क्लेश को प्राप्त होता है, तथा सम्बन्धियों को दुखित करता है। और अपने क्लेशों की उत्तरदायिता का भार ईश्वर पर डालता है।

२—प्रत्येक बच्चे को प्रकाश से प्रेम होता है। इसी कारण से माता के मना करने पर भी, एक दिन शिशु ने गृह में प्रज्व-लित दीपक की ज्वाला ( लोई ) को पकड़ लिया, और उससे अपना हाथ जला लिया। किन्तु जैसा हमारा प्रतिदिन का अनुभव है, वह शिशु इस कष्ट से शिक्षा लेता है तथा भविष्य में कभी उस दीप शिखा के पकड़ने का यत्न व साहस नहीं करता। अपितु हाथ को आग से पृथक् रखता है और उससे सुखी रहता है। परन्तु मनुष्य युवा, वृद्ध सुशिक्षित होकर भी अपने प्रतिदिन के क्लेशों से कुछ भी शिक्षा ग्रहण नहीं करता है। कष्ट के कारण को जानते हुये भी अथवा बोध करते हुए भी वर्त्तमान दुःख के बीत जाने पर प्रायः मनुष्य शिक्षा नहीं ग्रहण करते हैं। अपितु उसी कष्ट के कारण रूपी कार्य में पुनः प्रवृत्त होकर स्वयं ही दुःख को पैदा करते हैं।

यद्यपि हम मनुष्यों को अपनी विद्वत्ता, मानपत्रों पदवियों तथा धन ऐश्वर्यादि का बड़ा मान है और व्याख्यान व कथा आदि के कार्य में मनुष्य अपने को प्रवीण व चतुर समझता है। परन्तु उस मनुष्य ने अभी तक उस अबोध

शिशु के समान भी दुःख से शिक्षा प्राप्त नहीं की है; जो कि एक बार हाथ जलने के कारण पुनः अग्नि में हाथ नहीं डालता है। परन्तु इसके विपरीत मनुष्य तो पंडित वैद्य प्राड्विवाक ( वक़ील ) न्यायाधीश (जज) आदि उपाधियों से सुशिक्षित कहलाता हुआ भी, प्रतिदिन विषय वासनाओं की अग्नि में जल कर कष्ट सहन करता हुआ, अपने अमूल्य मनुष्य जन्म रूपी शरीर को जानता बूझता दग्ध करता हुआ दृष्टि-गोचर हो रहा है। तब क्या इस कष्ट का उत्तरदायित्व ईश्वर वा उसके सृष्टि के आरम्भ में प्रदर्शित ज्ञान के ऊपर आरोपित किया जा सकता है ? कदापि नहीं।

३—ज्ञानी तथा अज्ञानी में क्या अन्तर है। केवल पुस्तकों का अध्ययन मात्र करने से कोई ज्ञानी वा सुखी नहीं हो सकता है। सुख तो ज्ञानानुकूल कर्म के करने में ही जैसा कि शास्त्रकारों का कथन है कि—

"शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः ।
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्"।

अर्थात् शास्त्रों को केवल मात्र पढ़ने से आचरण में लाये बिना मनुष्य मूर्ख ही रहता है। किन्तु जो पढ़े हुए को व्यवहार में लाता है, वही विद्वान् है।

केवल कथा करने व्याख्यान देने से व श्रवण करने से कोई भी सुखी नहीं हो सकता है। अपितु दुःख के कारण का

बोध करने पर दुःख के कारण को दूर करने से ही मनुष्य स्वस्थ हो सकता है। अर्थात् दुःख से शिक्षा ग्रहण करने में सुख है।

२ दृष्टान्त—जैसे ऊर्णनाभि ( मकड़ीऊर्णनाभि ) का जाला किसी मनुष्य के शरीर या वस्त्र को लग जावे, तो वह मनुष्य कुछ भी ध्यान नहीं देता है, केवल जाले को हाथ से झटका कर हटा देता है।

परन्तु यदि वही जाला किसी व्यक्ति की आँख में पड़ जावे तो कष्ट होता है। नेत्र में औषधादि का उपचार करना पड़ता है, तथा भविष्यत् के लिये मनुष्य सावधान रहता है कि पुनः दूसरी आँख में जाला न पड़ जावे। वैसे ही अल्पज्ञ पुरुष वह है (चाहे वह कितना ही पठित क्यों न हो) जिसके सन्मुख, सांसारिक राग-द्वेष, हानि लाभ, जन्म मरण आदि शारीरिक सुख दुःख तथा काम क्रोध लोभ मोह अहंकार चिन्ता ईर्ष्या आदि मनोविकारों की अधिकता के दुष्परिणाम अपने देश व जाति वा अपने सम्बन्धियों के जीवन में प्रतिदिन पतितावस्था ( गिरावट ) दुःख व कष्ट के रूप में प्रत्यक्ष होते रहते हैं, परन्तु वह उनकी कोई चिन्ता नहीं करता है। अर्थात् उनको आँखों से ओझल कर प्रक्षेपण कर ( झाड़ ) निश्चिन्त हो जाता है।

अर्थात् नमदे के भीतर सूए के प्रवेश करने के सदृश जैसे नमदे के भीतर जब सूए का प्रवेश किया जाता है तो उसमें छिद्र रहता है। निकालने पर छिद्र का नाम भी नहीं

रहता है—नमदा अपनी वास्तविक अवस्था में आ जाता है। वैसे ही मनुष्य उपरिवर्णित कारणों से अल्पज्ञ व्यक्ति दुःख को अथवा उसके कष्ट को नितान्त विस्मृत कर देता है। परन्तु तत्व ज्ञानी वह है। जिसकी भावना व प्रकृति मकड़ी के जाले के चक्षु में गिरने के समान है। अर्थात् वह ज्ञानी पुरुष व स्त्री संसार के प्रत्येक कार्य से, जो कि अनित्य व परिवर्त्तन-शील हैं, व प्रत्येक प्रकार के दुःख के कारणों को देखकर, चाहे वह दुःख, किसी व्यक्ति व जाति, शरीर मन आत्मा को गिराने, निर्बल करने का कारण हो; शिक्षा ग्रहण करता है। तथा आगे के लिये दुःख सुख हानि, लाभ, जन्म, मरण से बचने का प्रयत्न करता है, तथा प्रबुद्ध रहता है, जिससे कि पुनः ज्ञानरूपी चक्षु में जाला पड़ने का कष्ट न उठाना पड़े। इस वृत्ति व भावना को बनाने का नाम तप है। और मनुष्य जन्म भी इसी के लिये प्राप्त हुआ है। इसी को तत्व ज्ञानी देव वृत्ति,-विवेक बुद्धि स्वीकार किया गया है। जिसके उप-लब्ध होने पर दुःख भी सुख का प्रदाता तथा गुरु ( शिक्षक ) प्रतीत होता है।

जो औषधि मनुष्य के रोग निवृत्ति का साधन हो, चाहे वह कितनी भी कटु क्यों न हो उसे-बुरी कौन कहता है और उससे घृणा कौन करता है। वह तो सुखरूप है, तथा उस औषधि के प्रदाता को बुरा कौन कह सकता है। अतः एक ज्ञानी व विवेकी पुरुष के लिये दुःख वास्तविक में सुख रूप ही है। जैसा कि इसके विषय में कबीर जी ने भी कहा है—

"सुख के शिर पर शिल पड़े, जो तुमको विसराय।
बलिहारी उस दुःख के जो पल २ नाम जपाय॥"

दुःख या कठिनाई के बिना किसी प्रकार की उन्नति विस्तार और परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि दुःख न होता तो संसार एक ही अवस्था में स्थिर रहता और मनुष्य जाति थकान आलस्य से पीड़ित होकर नष्ट हो जाती। जब कोई विघ्न या कष्ट सन्मुख उपस्थित हो तो मनुष्य को हर्ष करना चाहिए। क्योंकि विघ्न, कष्ट और कठिनाई के समुपस्थित होने का अर्थ यह है कि मनुष्य मूर्खता और उदासीनता की किसी विशेष श्रेणी तक पहुँच गया है और अब उसको रुकावटों से अपने आप को पृथक करने के हेतु और सन्मार्ग ढूँढने के लिए अपने विशेष पौरुष और बुद्धि का प्रयोग करना पड़ेगा। ऐसा समझना चाहिए कि मानों; अब उसकी आभ्यन्तरिक शक्तियां अधिकतर स्वतन्त्रता, अभ्यास, तथा बुद्धिमत्ता के अवसर के लिए पुकारने लगी हैं। कोई भी स्थिति या अवस्था स्वयम् कोई कठिनाई या दुःख नहीं है। उस अवस्था के आन्तरिक मर्मों को समझने की और उसके साथ जो व्यवहार किया जाता है, उसको समझने की न्यूनता का नाम कठिनाई, विघ्न या दुःख है। इस लिए संकट या दुःख से असंख्य लाभ होते हैं, और जिस कारण का कार्य, उन्नति तथा असंख्य लाभ है, वह तो सुख का ही एक रूप है। इस लिए ज्ञानी व्यक्ति दुःख आने पर घबराता नहीं, कष्ट नहीं मानता अपितु बुद्धिमत्ता का अवसर जान कर हर्षित होता है।

## तृतीय मन्त्र

यद्यपि उस ( उत्तमम् ) सर्व जगत की जीती जागती अधिष्ठातृ शक्ति (Govrning power of the univerce) का पूर्ण तथा वर्णन करना अल्पज्ञ जीवात्मा के लिए असंभव है, जैसा कि कवि ने कहा है—"तुम्हारी कृपा से जो आनन्द पाया। वह वाणी से जाए है क्योंकर बताया। गूंगे की रसना के सदृश्य अमीचन्द, कैसे बताए कि क्या रस उड़ाया। गुड़ खाने वाला कैसे बताए।" कि गुड़ कैसा मीठा है। यह तो प्रत्येक के अपने अनुभव तथा खाकर आनन्द लेने का विषय है। केवल गुण वर्णन करने से मीठा खाने का आनन्द किसी को आजतक प्राप्त नहीं हुआ। तो भी जैसे सांसारिक प्रेमी अपने प्रेमी के, चकोर चांद के, भंवरा फूल के, गुण गाने और वर्णन करने से नहीं थकता, ऐसे ही ईश्वर भक्त, उस अपने प्रीतम को जब एक तृण से लेकर उस प्रत्यक्ष ज्योति तथा शक्ति के पुञ्ज सूर्य रूपी केतु के अन्दर बाहर, प्रत्येक रंग रूप, तथा गति और अवस्था तथा स्थान में अनुभव करता है तब उससे रहा नहीं जाता और अपने मन के उद्गार निम्न लिखित मंत्र द्वारा विशेष रूप में फिर वर्णन करता है।

## सूर्य आत्मा जगतः

ओम् चित्रंदेवानामुदगादनीकं चक्षु र्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्राद्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा। यजु. अ. १३ मं. ४६

शब्दार्थ—वह (देवानाम्) देवों, (विद्वानों या दिव्य गुण युक्त पदार्थों) का (चित्रम्) विचित्र (उद्गात) प्रकाशित (अनीकम्) बल है (मित्रस्य) सूर्य का (वरुणस्य) चन्द्र का वायु का और (अग्नेः) अग्नि का (अथवा श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुषों की (चक्षु) प्रकाशक है (द्यावा पृथिवी अन्तरिक्ष) द्यौलोक पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष में (आप्रा) व्यापक है। वह (जगतः) जंगम (च) और (तस्थुषः) स्थावर संसार का (सूर्य) प्राण, प्रेरक, और (आत्मा) अन्तर आत्मा, आधार है। उसके लिए (स्वाहा=स्व+आ+हा=स्वाहा) मैं अपने को अर्पण करता हूँ। अर्थात् सर्वस्व त्याग करके, उसी की इच्छा करता हूँ।

भावार्थ—वह आश्चर्य रूप अर्थात् विचित्र कृतिवाला, रचना करने वाला, जैसी कोई और नहीं कर सकता। सारा जड़ चेतन संसार मिलकर भी जिसकी विचित्र कृति और रचने की विधि नहीं जान सकता, न वैसी बना सकता है, विद्वानों उपासकों दिव्य गुण युक्त पदार्थों का बल वही है। सूर्य, चन्द्र, वायु अग्नि की आंख अर्थात् पथ-प्रदर्शक, हमारे भीतर बाहिर

प्रकट हो रहा है। उसने अपने प्रकाश वा शक्ति से द्यौलोक, पृथिवी लोक और अन्तरिक्ष लोक को भर दिया है अर्थात पूर्ण कर रखा है, वह (सूर्यों) विद्वानों से प्राप्त होने योग्य है। (वह अज्ञान, तथा नेत्र का विषय नहीं) वह जंगम और स्थावर (जड़ चेतन) सर्व संसार तथा प्राणियों का आत्मा अर्थात्, (जीवन, प्राण, सूत्रधार और नियन्ता) है।

भक्त देखता है, अनुभव करता है, कि इस संसार की जहां रचना विचित्र है, वहां विचित्र शक्तियां भी दृष्टिगोचर हो रही हैं। जिनका चमत्कार मनुष्य को चकित कर देता और मौन करा देता है। वहां मनुष्य के सांसारिक वैभव अर्थात् (शासन, धन, विज्ञान, प्रकृत्ति के पदार्थों की विद्या और शारीरिक बल आदि) के अहंकार को चकनाचूर कर देता। और जिज्ञासु बोल उठता है।

"कोटानुकोटि भूमि, उस पर असंख्य प्राणी।
जगदीश अपना नम्बर मैं कौन सा गिनाऊं" ॥

वह अनुभव करता है कि एक चीवँटी की सम्भवतः हिमालय पर्वत के सामने कुछ गणना हो तो हो, परन्तु संसार के रचयिता और उसकी रचना में प्रकट हो रही शक्तियों और ज्ञान बल के सामने मेरी शक्ति तथा ज्ञान का कोई स्थान नहीं।

और जो शक्ति या ज्ञान आदि मनुष्य मात्र के पास है या दिव्य जड़ पदार्थों की कही जाती है, उनका आधार तथा स्रोत भी वही है, अर्थात् उसकी देन है। जैसे निम्न

लिखित कुछ दृष्टान्तों से पता चलेगा कि उसकी रचना कैसी विचित्र है।

(१) सब जानते हैं कि पृथिवी के बनने के साधन तथा नियम एक जैसे हैं। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, समुद्र नदियां, जल से पृथिवी और पहाड़, वनस्पतियां, फूल, फल और इसी प्रकार अग्नि, जल, वायु पृथिवो के शरीर-धारी जीवों की सृष्टि बनी है और बनती हैं। अर्थात् एक ही उपादान कारण ( मसाले वा बीज ) से सृष्टि बनी है। परन्तु पृथिवी के एक ही छोटे से टुकड़े में से एक ओर काला कोयला निकलता है, तो दूसरी ओर श्वेत लवण ( नमक ) निकल रहा है।

और एक ओर नीलम जैसा नीला ज्वाहिर निकल रहा है, दूसरी ओर श्वेत जस्त तथा सिक्का निकल रहा है। एक ही भूमि के टुकड़े में एक ओर केसर की अमूल्य क्यारियां हैं और साथ ही मक्की की फलियां खड़ी हैं। न केसर के टुकड़े में मक्की उग सकती है और न मक्की वाले टुकड़े में केसर उग सकता है।

इन दोनों टुकड़ों के साथ ही बादाम के वृक्ष लगे हैं, जहां न केसर उग सकता है और न मक्की उग कर फल देती है। कितनी विचित्रता है। ब्रह्मा देश में पृथ्वी के अन्दर खोदने से एक ओर मिट्टी का तेल या पटरोल निकल रहा है साथ ही लाल हीरे निकल रहे हैं।

२. फूलों की एक ही क्यारी में एक प्रकार के फूल दिन को खिलते हैं, सायंकाल को बन्द हो जाते हैं। दूसरे फूल रात चांद की चान्दनी में खिलते हैं, प्रातः काल होते ही बन्द हो जाते हैं। उसी क्यारी में एक फूल खरगोश की आकृति का है, वैसा ही मुख, कान, आंख, जिह्वा, इत्यादि दूसरी ओर एक मछली तथा तितली आदि की आकृति का है। एक फूल सुगन्धी से भरपूर है, दूर सुगन्धी जा रही है, दूसरे साथ खड़े फूल में सुगन्धी का नाम नहीं। एक ओर काली मिर्च है जिसके कई गुण है और कई प्रकार से प्रयोग लेने से विचित्र भिन्न २ लाभ हैं। परन्तु आकृति सब की एक ही प्रकार की है। यदि एक २ गुण तथा लाभ की काली मिर्च पृथक २ बनती, तो कितनी बनती, और आकृति एक जैसी होने के कारण उनकी पहचान मनुष्यों को कैसे होती। रखने वाला दुकानदार पृथक २ कितनी बोरियों में कैसे रखता तथा बेचता। यह विचित्रता किस की है। दूसरी ओर लाल मिर्च उग रही है, जिनके अन्य ही विचित्र गुण तथा लाभ हैं। साथ ही छोटा सा पोदीना का पोदा लगा है जिसका विचित्र लाभ और आकृति है। परन्तु न कोई फूल है न फल है। खेत के एक ही टुकड़े में खजूर जैसा मीठा फल, जिसके भीतर पत्थर जैसी कड़ी गुठली, साथ ही जामुनखटमिट्ठा और उसके भीतर भी गुठली। साथ ही अनार जिसका ऊपर का पैकिङ्ग लकड़ी जैसा कड़ा उसके अन्दर मिठास भरी शीशियां रूपी दाणे जिनको एक

दूसरे से लगाकर खराब होने से बचाने के लिए पतला सा कागज देकर, एक २ दाणा इस बक्स में जमाया है कि किसी मनुष्य की शक्ति से बाहर है।

## ३. जलसृष्टि की विचित्रता

जल के जीवों की सृष्टि भी विचित्र है। एक छोटा-सा जीव समुद्र में पड़े पत्थर से परमाणु लेकर अपने ऊपर कई प्रकार के घर बना लेता है जैसे शंख, घोंघे, सीपियां आदि जिनके नाना रूप, रंग तथा आकृतियां हैं। छोटी सी साधारण मछली और मेण्डक से लेकर व्हेल मछली तक जो कि जहाज़ को भी टक्कर मार कर तोड़ दे और कई मनुष्यों को भी निगल जावे—जीवों की सृष्टि उसी की विचित्र महिमा है। फिर इन जीवों की नाना प्रकार की आकृतियां तथा रूपरंग और उनके कार्य तथा उपयोगिता को कौन कहां तक वर्णन करे या लिखे। ऐसे ही अग्निमय शरीर वाले, वायु में उड़नें वाले, जल में विचरने वाले, जल में तैरने के साथ साथ वायु में उड़ सकने वाले जीव तथा जल में तैरने तथा पृथ्वी तल पर चल फिर सकने वाले, वृक्षों पर पत्तों के से रंग वाले, वृक्षों और पौदों पर ही जीवन व्यतीत करने वाले पृथ्वी गर्भ में रहते हुए मिट्टी या कंकड़ आदि खाकर जीने वाले,—ऐसे अनेक जीव जन्तुओं की यह सृष्टि है। इन सब के पृथक्-पृथक् गुण-कर्म स्वभाव, आकृति, रंग-रूप और अनेक नाम न कोई मनुष्य पूर्णतया जान सका

और न लिख सका। संसार के सब वैज्ञानिक, वैद्य तथा डाक्टर मिलकर भी यह कहने का सामर्थ्य नहीं रखते कि किसी एक पौदे या वृक्ष के एक पत्ते या फूल में, तथा जल-वायु तथा पृथ्वी में रहने वाले किसी जन्तु के इतने ही गुण या लाभ हैं जितने वे जानते हैं। अभी तक कोई मनुष्य यह नहीं कह सका कि संसार में कितने प्रकार की मक्खियाँ या च्यूँटियाँ हैं और यह कि वह उनके सम्पूर्ण गुण-कर्म-स्वभाव से परिचित हैं। किस-किस ऋतु में किस-किस आकृति या नाम-रूप-रंग और उपयोगिता वाले वायु-जल अथवा पृथ्वी पर कुछ काल के लिये ही उत्पन्न होते और अपना कार्य करके चले जाते हैं—उनके सम्बन्ध कौन मनुष्य पूर्णतया जानता है। कोई दिन को देखते हैं, कोई रात को और कोई-कोई जीव दिन और रात दोनों समय देख सकता है। जिस प्रकार जुगनु की आंखें रात्रि के समय चमकती हैं इसी तरह कई प्रकार की मछलियों की आंखें भी रात के समय चमकती हैं। देखिये उस स्रष्टा का कमाल ! उसने जो शरीर प्राणियों को दिये हैं वे जन्म के समय कितने छोटे होते हैं परन्तु बिना किसी दूसरी चीज़ के जोड़ देने के वे निरन्तर विकसित होते चले जाते हैं। अब लीजिये मानव-कृत चीज़ों को। यदि वह कपास आदि से कोई थैला आदि तय्यार करता है तो उसको पुनः उधेड़े और सिये बिना उसकी लम्बाई-चौड़ाई को बढ़ाया नहीं जा सकता।

यदि हमें उस थैले में थोड़ी सामग्री के स्थान में अधिक सामग्री का समावेश करना हो तो उसको काट-छांट कर उसमें

कुछ-न-कुछ वस्त्र और ज़रूर डालना पड़ता है परन्तु स्रष्टा के रचे हुए शरीर स्वयं ही छोटों से बड़े होते चले जाते हैं। मनुष्य चेतन है; वह भी विचित्र चीज़ें तय्यार कर सकता है परन्तु स्रष्टा की महा-चेतना के कारण उसकी विचित्रता मनुष्य की विचित्रता से बहुत बढ़ कर है।

यह विचित्रता जिज्ञासु को जगतकर्ता की महानता और अपनी अल्पज्ञता का अनुभव कराती है और वह उसे प्रभु के चरणों में झुकाती जाती है।

## ४. मानव सृष्टि तथा पशु जगत् का भेद—

मनुष्य सृष्टि की कर्मेन्द्रियां प्रायः अनेक पशुओं की कर्मेन्द्रियों के साथ मिलती हैं। जैसे हाथ-पांव, मुँह, जिह्वा, कान, नाक इत्यादि। परन्तु देखा जाता है कि पशु का बच्चा इन इन्द्रियों से कार्य लेते समय किसी की सहायता या शिक्षा नहीं लेता जैसे चलने-फिरने, खाने-पीने के चुनाव में अपनी रक्षा करने, बोली बोलने, रोग निवृत्ति के लिये जंगल से औषधि चुनने में, अपने शत्रु के निकट होने पर पता लगने तथा भाग जाने के लिये, आने वाले भूकम्प, वर्षा आदि का ज्ञान हो जाने, नदी में तैरने और पक्षी के बच्चे को वायु में उड़ने के लिये किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं। उसका यह ज्ञान जन्म सिद्ध है। परन्तु मनुष्य के बच्चे को इन सब क्रियाओं के लिये माता-पिता तथा गुरु आदि की शिक्षा और सहायता की आवश्यकता है। अपितु कई अवस्थाओं में तो मनुष्य को शिक्षा पाकर भी पशुओं के बराबर भी इन बातों

का ज्ञान नहीं होता—यह विचित्रता किस की है। देखा गया है कि मनुष्य के बच्चे को रीछ उठा कर ले जाता है और उसमें कई वर्ष तक उसके साथ रहने से उसका खाना-पीना चार पावों पर चलना और वैसी ही बोली बोलना पाया जाता है।

क्योंकि उसे मनुष्य की सी क्रिया करने की समुचित शिक्षा नहीं मिली। इससे ज्ञात होता है कि जन्म से मनुष्य पशु समान है अपितु उससे भी निकृष्ट है क्योंकि जन्म से उसे पशु जैसा भी साधारण ज्ञान प्राप्त नहीं होता। परन्तु मनुष्य में शिक्षा द्वारा बहुत सी अपूर्व विशेषताएँ और शक्तियां आ जाती हैं जो कि पशु-पक्षी को शिक्षा मिलने पर भी नहीं आ सकती। मनुष्य अपने और दूसरों के लिये अनाज-फल आदि उत्पन्न कर के अपने तथा दूसरों के लिये भोजन उत्पन्न कर सकता है। सूर्य-चन्द्र, वायु जल पृथ्वी तथा विद्युत आदि के गुणों को जानकर वह स्वयं उनसे लाभ उठाता है और प्रभु प्रजा को उनका लाभ पहुँचाता है। स्वयं दीर्घायु हो सकता है और दूसरों को दीर्घायु होने की शिक्षा देकर उनकी सुख शांति में वृद्धि करने तथा संसार की चीजों को अधिक उपयोगी बना सकने में समर्थ होता है। वह स्वयं रोग रहित होकर दूसरों की रोग निवृत्ति के साधन उपस्थित कर सकता है। परन्तु पशु ऐसा नहीं कर सकता।

मनुष्य कीं एक और विशेषता उसकी ज्ञानचक्षु है, जिस से वह आत्म ज्ञान (Self-knowledge) प्राप्त करके अपने को शरीर से पृथक् जांन सकता है और अपने तथा जगत् के प्राण-धार सृष्टि रचयिता को तथा उसकी आज्ञाओं को जान सकता है। और उन आज्ञाओं का प्रचार करके संसार में आस्तिकता का प्रचार करके एक माता-पिता के परिवार के समान सारे जगत को प्रेमपूर्वक जीवन-व्यतीत करना सिखा सकता है। परन्तु पशु को यह अनुपम ज्ञान चक्षु प्राप्त नहीं। शिक्षा मिलने पर भी पशु को यह प्राप्ति नहीं हो सकती। जिज्ञासु देखता है कि प्रत्यक्ष जड़ जगत में बिना चेतन शक्ति की सहायता के गति नहीं। जो गुण कुछ परमाणुओं के समूह में नहीं वह उसके एक अंश में भी नहीं हो सकते क्योंकि स्वाभाविक गुण गुणी से कभी पृथक् नहीं होता। परमाणुओं के मेल बिना यह सृष्टि, उसके नाना पदार्थ—सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, द्यौलोक, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी जल-वायु आदि जड़ जगत् और इनके अन्दर इनके गुण और मनुष्य आदि प्राणियों के जीवन के लिए शक्तियां विचित्र रूप-रंग ताप-प्रकाश, शीतलता आदि, जिनके बिना सृष्टि एक पल स्थिर नहीं रह सकती, न बन सकती है—इनको प्रत्यक्ष रूप देने वाला, और स्थिर रखने वाला नियमपूर्वक गति देने वाला और प्रत्यक्ष समूहरूप में अरबों वर्ष तक उपयोग लेने की सामर्थ्य वाली एक चेतन अनन्त ज्ञान वाला सर्वव्यापक पुरुष ही होना चाहिये। प्रभुभक्त अनुभव

करता है कि पशु को तो कल का भी ज्ञान नहीं रहता; कुछ समय पश्चात् वह अपने माता-पिता को भी भूल जाता है, यद्यपि उसकी इन्द्रियां तथा मन बुद्धि भी मनुष्य जैसी ही हैं परन्तु मनुष्य यदि शिक्षा प्राप्त करे तथा अपनी योग्यता और साधनों से काम ले तो उसकी स्मरण शक्ति बहुत उन्नत हो जाती है। और अपने कई वर्षों के कर्म्मों का स्मरण करके जहां दुखी-सुखी होता है वहां उन अपने कष्टों के कारण को स्मरण करता हुए उसका प्रतिकार या पश्चाताप करता हुआ अपने भविष्य को सुधार सकता है। परन्तु पशु ऐसा नहीं कर सकता।

## मनुष्य का मन

एक ऐसा चित्रगुप्त ( Record-keeper ) है कि प्रत्येक मनुष्य की गुप्त क्रिया तथा विचार उसके मन में विराजमान रहते हैं अर्थात् वह तत्काल ही प्रत्येक बात का चित्र खींच कर अपने ऊपर अंकित कर लेता है। उसकी इस क्रिया में उसे आँख के झपकने तक का समय भी नहीं लगता। परन्तु समय आने पर वह ५०-१०० वर्ष तक का पुराना चित्र भी कर्म कर्त्ता जिज्ञासु मनुष्य के सामने रख देता है। यह विचित्र शक्ति मन में किसने रखी है? क्योंकि मनुष्य स्वयं तो अपने अनुचित कर्म्मों को स्मरण करना भी नहीं चाहता, न उनका फल भोगना चाहता है और न ही उन के लिये लज्जित तथा दुखी होना। यदि संसार के सब प्राणियों के, कई जन्मों के कर्मों का लेखा लिखने तथा सुरक्षित रखने के लिये स्थान

तथा साधन का प्रबन्ध करना होता—जैसे कि संसार की शासन शक्तियां या राजकर्मचारी आदि रखते है—तो यह कहां रखा जाता ? कौन इसे लिखता और यह कैसे सुरक्षित रहता क्योंकि राजशक्तियां भी कुछ वर्षों के पश्चात् रिकार्ड को जला देती हैं। यह स्वयं भी गल-सड़ जाता है। परन्तु जिज्ञासु यह प्रबन्ध पूर्ण रूप में प्राणि मात्र के मन में ही सुरक्षित देखता है जिस पर मनुष्य की न कोई शक्ति लगती है और न इस पर उसका कुछ अधिकार है। परन्तु जैसे-जैसे किसी व्यक्ति की इस विचित्र रचना का चिंतन करके ही (जो कि एकान्त-सेवन से ही हो सकती है) ज्ञान वृद्धि होती है, वैसे ही उसकी मनन तथा स्मरण शक्ति भी उन्नत अर्थात् पवित्र तथा एकाग्र होती है जिसका फल है आत्म-ज्ञान जो कि मनुष्य को ऋषि तथा देवता पद की प्राप्ति करा देती है। परन्तु यह शक्ति किसी पशु को प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था को प्राप्त हुआ हुआ प्रभुभक्त अनुभव करता है कि मेरी तथा अन्य योगियों, तथा विद्वानों की अवस्था का आधार और कारण भी वही सर्वज्ञ-सर्वान्तर्यामी शक्ति है, जिसकी महिमा का तनिक वर्णन भी मेरी शक्ति से बाहर है। और फिर वह मूकवत् एक शब्द का जाप करने लगता है—"चित्रम्" अर्थात् तू विचित्र है—तेरी महिमा व लीला विचित्र है। परन्तु कोई नया विचित्र विचार तथा सत्य कोई भी विद्वान् या ज्ञानी अपने हृदय में छिपाकर रख नहीं सकता (जो छिपाते हैं वे भी अल्प ज्ञानी

हैं। उनमें अभी निर्बलता है, दिखलाया है, वास्तव ज्ञान नहीं)। उससे तो रहा नहीं जाता जब तक कि वह उस सत्य को ज़ो कि प्रभु की देन है, प्रभु-प्रजा में तथा अपने इष्ट मित्रों में बांट नहीं देता। इस लिये वह अपनी वाणी को खोलता है और इस मन्त्र को "चित्रं" शब्द से आगे बढ़ाता निम्नलिखित प्रकार से उसका व्याख्यान करता है—

कि उस "उत्तम, जातवेदा, सर्वज्ञ"

सृष्टिकर्ता की सृष्टि विचित्र है, आश्चर्य रूप है। वही विद्वानों का ज्ञान दाता, उपासकों का उपास्यदेव और बलियों का बल, संसारिक दिव्य पदार्थों का प्रकाशक तथा आधार और रसों का रस तथा सर्व शुभ गुणों का स्रोत है। वह सूर्य-चन्द्र तथा अग्नि का प्रकाशक अथवा सूर्य-चन्द्र वायु तथा अग्नि की तरह विचरने वाले, संसार का कल्याण करने वाले, यती-सती, ऋषि मुनि, दिव्य गुण युक्त नेताओं की चक्षु है, पथ प्रदर्शक है क्योंकि वह द्यौलोक, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी लोक में सर्वत्र अर्थात् प्राण वायु की भांति, उनके भीतर रहकर, सबको नियमपूर्वक चला रहा है और उनके बल-क्रिया का आधार है। वही जंगम-स्थावर सृष्टि का प्राण तथा आत्मा है। जिस प्रकार जीवात्मा के शरीर से निकल जाने पर, किसी शरीर में कोई शक्ति क्रिया, ज्ञान, रूप-रंग आकर्षण, प्रेम-पवित्रता आदि गुण नहीं रहते; अपितु मली-नता दुर्गन्धि आदि उत्पन्न हो जाते हैं और वह शरीर जलाने,

दूर फेंकने और त्यागने योग्य हो जाता है, ऐसे ही जो शुभ गुण किसी जड़ पदार्थ में तथा प्राणधारी में दृष्टि गोचर हो रहे हैं वह उसी विचित्र जगदीश्वर के हैं और उसी के सबके भीतर व्यापक होने के कारण से हैं। यह सब उसी के ज्ञान-बल-क्रिया का प्रकाश है क्योंकि वह जगत् का नियन्ता और सूत्रधार है। इस लिये उस जगत् का सर्वस्व उसी के लिये अर्पण कर देना ही उसकी पूजा है और मनुष्यमात्र का कर्तव्य या धर्म है। परन्तु उसको हमारी किसी वस्तु शक्ति या ज्ञान की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह पूर्ण है और अकाम है जैसे कि वेद में भी कहा है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

अर्थात्—कामना रहित, सर्वज्ञ, अमृत स्वरूप सदा से अपनी सत्ता को स्थिर रखने वाला, आनन्द से पूर्ण, न्यूनता रहित, सर्व व्यापक, बुद्धिमान्, क्षयरहित, सदा युवा—ऐसे गुणों वाले परमात्मा को जानने वाला मृत्यु से नहीं डरता।

चूंकि यदि वह कामना वाला हो तो हमारी तरह अपूर्ण, अल्पज्ञ और शरीरधारी हो जावे। इस लिये उसकी पूजा यही है कि मनुष्य निष्काम भाव से अपना ज्ञान तन-मन-धन

आदि सर्वस्व प्रभु-प्रजा में अधिकारियों को बांट दे। जैसे किसी सांसारिक माता पिता के दुःखी-अज्ञानी बच्चे की विनाफल की इच्छा के सेवा करने से माता-पिता को अपना मित्र और सहायक बना लिया जाता है ऐसे ही प्रभु की दुखी अज्ञानी सन्तान की तन-मन-धन से सेवा करके तथा उसे ज्ञान देकर, उस जगदीश्वर को अपना सखा तथा सहायक बनाकर उसके ज्ञान तथा आनन्द गुण के स्रोत से ज्ञान लेकर ज्ञानी तथा आनन्दी बनना है। यही मनुष्य जन्म का लक्ष्य है।

---

( ४ )

## जीवेम शरदः शतम्

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत ऽंशृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम् भूयश्च शरदः शतात् ॥ यजु० अ० ३६ मं० २४

शब्दार्थ—( तत् ) वह जगदीश्वर (चक्षुः) सब की आंख, पथप्रदर्शक, नेता, द्रष्टा है। ( देवहितम् ) ज्ञानियों, विद्वानों, श्रेष्ठ धार्मिक लोगों का हितकारी (शुक्रं) शुद्ध स्वरूप, पवित्रता वा बल का स्रोत, ( पुरस्तात्+उत+चरत् ) सामने उदय की नाईं प्रकट खड़े की भांति अर्थात प्रत्यक्ष उदित है वा पूर्व से विद्यमान् है। (पश्येम) उसको हम देखें। (शरदः शतम् ) सौ वर्ष तक (जीवेम) हम जियें। (शरदः शतं) सौ वर्ष तक (शृणुयाम) हम सुनें। (शरदः शतं) सौ वर्ष तक (प्रब्रवाम) हम बोलें। (शरदः शतं) सौ वर्ष तक (अदीनाः स्याम) हम अदीन होकर रहें। ( शरदः शतम् ) सौ वर्ष तक, (च) और (भूयः) अधिक भी अर्थात सौ वर्ष से भी अधिक इसी प्रकार स्वस्थ रहते हुए जियें।

भावार्थ—वह जगदीश्वर ही संसार में सबकी आंख हैं, नेता है। स्वयं पवित्र वा ज्ञानी होने से, (ज्ञान, पवित्रता,

बल, प्रकाश—ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं) ज्ञानियों का हितकारी अर्थात् ज्ञान की वृद्धि में सहायक है। वह सदा सामने प्रकट की नाईं प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, उसी को सदा संग, प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए अर्थात् उसी के ज्ञान, बल, क्रिया का सर्वत्र संसार में अनुभव करते हुए उसी की आज्ञानुसार, उसी के नेतृत्व को स्वीकार करते हुए, हम सौ वर्ष तक देखते रहें, सुनते रहें, बोलते रहें और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते रहें। अथवा वह जगदीश्वर, सर्वनियन्ता अपनी आज्ञानुसार ही हमारे आंख, कान, वाणी को सदा कर्म करने रहने की शक्ति दे, प्रेरणा करे और उन्हें बलयुक्त बनाए रखे। जब तक हम जियें, स्वतन्त्र होकर जियें अर्थात् ईश्वर के बिना और किसी की अधीनता स्वीकार न करें; क्योंकि सच्ची स्वतंत्रता या निर्भयता सर्वनियन्ता के आधीन उसके नेतृत्व में या उसके आज्ञानुसार जीवन व्यतीत करने में है। यदि हम सौ वर्ष से अधिक जीवें तो भी इसी प्रकार स्वस्थ रहते हुए जियें।

संसार के प्रत्येक कार्य की कुशलता अथवा बिना किसी विघ्न बाधा के व्यवहार को ठीक चलाने के लिये और विचार भेद प्रकट होने पर उसके निश्चय के लिये, चक्षु की ही आवश्यकता होती है जिससे विचार-भेद मिटकर, एकता और शांति की स्थापना हो जाती है। जैसे—किसी भारी वस्तु के भारी वस्तु के भार या वजन के सम्बन्ध में मत भेद होने पर, वजन करने का तराजू उस भेद को मिटा

देता है और ग़लती के ठीक हो जाने पर दो व्यक्तियों में एकता स्थापित करके शांति पूर्वक व्यवहार करा देता है। यहां तराजू ही व्यवहार सिद्धि की चक्षु है। यह एक बड़ी कसौटी या टैस्ट (Test) है।

२. किसी मकान की दीवार के सीधा या टेढ़ा होने पर विवाद निश्चय के लिए, एक सिरे से दूसरे सिरे तक रस्सी या सूत्र लटकाने से या सीधी लकड़ी के रखने से दीवार के सीधा होने या टेढ़ा होने का निश्चय हो जाता है। इस प्रकार दो व्यक्तियों के मतभेद ठीक हो जाने पर विवाद मिट जाता है और शांति की स्थापना हो जाती है। यहां विवाद को मिटा देने की कसौटी या चक्षु सूत्र या रस्सी है जो सत्य असत्य का निर्णय कर देती है।

३. किसी वस्त्र की लम्बाई चौड़ाई पर दो व्यक्तियों के मत भेद को नापने का गज़ मिटा देता है। ग़ल्ती का ज्ञान होने पर विवाद के स्थान पर शांति की स्थापना हो जाती है। यहां कपड़ा नापने का गज़ ही चक्षु या कसौटी है।

४. ऐसे ही सोने का खोटापन या खरापन परखने के लिये और उस पर बढ़े हुए विवाद को मिटाने के लिये तथा कुशलतापूर्वक व्यवहार करने के लिये उसे परखने की कसौटी ही, चक्षु या टैस्ट (Test) है। ये उपरि लिखित टैस्ट या चक्षु सर्वत्र हैं और सब के लाभ के लिये हैं। मनुष्य मात्र इससे काम लेकर शांति पूर्वक व्यवहार चलाकर प्रेम से सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। ऐसे ही मनुष्य सृष्टि में अच्छा

या बुरा, ठीक या ग़लत, कर्तव्य-अकर्तव्य, सुख-दुःख, धर्मा-धर्म, सत्य-असत्य के निश्चय के लिए, जब दो व्यक्तियों परिवारों, सभाओं, मतवादियों, धर्मावलम्बियों में मतभेद हो कर विवाद आरम्भ होता और अशांति प्रकट होती है और जब एक व्यक्ति कहता है कि जो कुछ मैं सोचता या कहता हूं ठीक नहीं है। मेरा मन यही गवाही देता है और दूसरा व्यक्ति भी अपने विचारों की पुष्टि इसी प्रकार करता है तो इस विवाद को मिटा कर शांति स्थापना के लिए मनुष्य मात्र के लिए भी कोई टैस्ट कसौटी या चक्षु होनी चाहिए, जिस की उपस्थिति में सब अज्ञान, भ्रम विवाद आदि मिट जावें और जिससे संसार मात्र के मनुष्यों को वास्तव ज्ञान (True knowledge) की प्राप्ति होकर, शांति वा प्रेम तथा सुख के राज्य की स्थापना करने में सहायता मिले।

प्रत्यक्ष, स्थूल, दृष्टिगोचर संसार तथा शरीरधारी जीवों का नेतृत्व भी उनकी चर्म चक्षु द्वारा ही होता है। यदि किसी शरीरधारी की आंखें रुग्ण हों, निर्बल हों या उन पर पर्दा पड़ा है या कोई जान बूझ कर आंखें मीचकर चले, तो चाहे उसकी शेष सब इन्द्रियां ठीक काम करती हों, शरीर भी स्वस्थ हो, परन्तु उसके ठोकर खाने, रास्ता भूल जाने, रास्ते में चोरों से लूटे जाने गिर कर चोट खाकर मृत्यु तक के हो जाने और अपने लक्ष्य पर न पहुँच सकने की शंका वा कठिनाई बनी ही रहेगी। दूसरी इन्द्रियां उसको लक्ष्य पर पहुँचाने में असमर्थ रहेंगी क्योंकि इस शरीर रूपी रथ का

नेता अर्थात् चक्षु रुग्ण है; काम नहीं कर रहा, या सहायता नहीं दे रहा; इस लिए जैसे शरीर रूपी रथ को निर्विघ्नता से किसी स्थान पर पहुंचाने के लिए और कष्टादि से बचने के लिए प्रत्यक्ष स्थूल चर्मचक्षुओं की ही विशेष आवश्यकता है नहीं तो यात्रा खोटी या लंबी हो जाती है। ऐसे ही मानव संसार की यात्रा को निर्विघ्न समाप्त करने तथा शीघ्र लक्ष्य पर पहुँचने के लिए अर्थात सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म; अच्छा बुरा कर्तव्य-अकर्तव्य, का निश्चय करके भ्रम विवादादि कष्टों और विघ्नों को दूर करके सीधा परमानन्दरूपी लक्ष्य पर पहुंचने के लिये भी मनुष्य मात्र को भूल से रहित निष्पक्ष किसी एक टैस्ट, कसौटी या चक्षु की आवश्यकता है। ताकि सब पुरुष शंका रहित होकर एक ही लक्ष के यात्री और एक ही मार्ग पर चलने वाले यात्रियों की भांति प्रेम पूर्वक सब के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होते हुए मिलकर मार्ग के कांटों और विघ्नों को दूर करते हुए, एक दूसरे का हाथ पकड़ कर मनुष्यमात्र को लक्ष्य पर पहुँचाने में प्रयत्नशील हों और एक दूसरे की सहायता तथा सेवा करते हुए, एक ही परिवार की भांति संसार में प्रसन्नता वा शांति का जीवन व्यतीत करें।

अब यह प्रश्न पैदा होता है कि संसार की वह चक्षु या कसौटी कौन सी है और कहां है जिस के द्वारा संसार के विवाद मिटा कर शांति स्थापना की जा सके ?

इसका उत्तर यह है कि वह कसौटी वा चक्षु सबके पास है और जो मनुष्य उससे काम ले रहे हैं या जितना जहां या

जिस समय उस का उपयोग करते हैं उतना ही वे सुख-आनन्द का उपभोग करते हुए भी प्रतीत होते हैं । परन्तु जिस समय उस का आश्रय या पल्ला छोड़ते हैं, टेढ़े या पासंग वाले तराजू या न्यूनाधिक मात्रा में तोलने वाले वट्टे या नापने वाले गज्ज फीते या धागे से काम लेते हैं तो विवाद उत्पन्न करने का कारण बनकर संसार में शांति के स्थान में अशांति तथा नैतिकता के स्थान पर अनैतिकता फैलाते हैं ।

शरीरधारी जीवों की चर्मचक्षु का जैसे कभी अभाव नहीं हुआ, न हो सकता है, न किसी जाति या मत वालों के लिए प्रकृति का कोई पक्षपात है और जैसे इन चर्मचक्षुओं की सहायता के लिए सूर्य निष्पक्षतापूर्ण सब जगह विद्यमान है उसी तरह वे विशेष चक्षु और उसको प्राप्त करने तथा पवित्र रखकर उपयोग में लाने के साधन भी मनुष्यमात्र को प्राप्त हैं ।

प्रत्येक पुरुष दिन में परिश्रम करता है, परन्तु दिन के किये हुए कई अधूरे काम, रात आने और विश्राम लेने के कारण, छोड़ कर सो जाता है अपितु अपनी इन्द्रियों और मन को भी छोड़ देता है । उस अवस्था में मनुष्य अपने प्रिय कार्य किस के आश्रय पर छोड़ देता है । जड़ प्रकृति पर कोई विश्वास नहीं कर सकता । अकस्मात् अनिश्चित तौर से हो जाने वाली किसी शक्ति पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता । अपनी संपत्ति तथा अपन अपने संबंधियों और शरीर को भी विश्वास पर ही छोड़ता है कि प्रातः काल यह सब मुझे सुरक्षित मिलेगा

क्योंकि मनुष्य अनुभव करता है कि संसार में कोई ज्ञानवान् तथा जीती जागती शक्ति विद्यमान् है, जिसके अटल नियम हैं।

नियन्ता के नियमानुसार प्रातःकाल को सूर्य अवश्य उदय होगा। सूर्य नियमविरुद्ध पृथ्वी के निकट आकर पृथ्वी को अपनी गरमी से भस्म नहीं कर सकता, न कुछ दूर जाकर पृथ्वी को बहुत ठंडा कर के प्राणियों और पृथ्वी की उत्पादन शक्ति का नाश कर सकता है। मेरी थकावट दूर होगी, मेरा अधूरा काम मुझे वैसा ही मिलेगा और मैं उसको पूर्ण कर सकूंगा, मुझे कार्य के पूर्ण करने का समय मिलेगा—

इस ज्ञान पूर्ण विश्वास पर जिसमें भूल नहीं मनुष्य निश्चिंत होकर प्रगाढ़ निद्रा में सो जाता है। क्योंकि यदि उसे सूर्योदय होने के अटल नियम पर विश्वास न हो तो चिंतित रहेगा और उसे रात्रि को नींद नहीं आवेगी। दुःखी हो वह शीघ्र ही मृत्यु का ग्रास बन जाएगा। इस तरह वह सांसारिक व्यवहार न चला सकेगा। संसार का व्यवहार संसार के नियन्ता चेतनशक्ति के विश्वास पर ही चल रहा है यही विश्वास मनुष्यमात्र के आनन्द और सुख का कारण बन रहा है। अन्यथा संसार दुःख का रूप हो जाये। जैसे मनुष्य किसी जीवित सदाचारी सम्बन्धी या मित्र पर ही विश्वास कर के अपने धन संपत्ति तथा स्त्री-बच्चों को उसके आश्रय में छोड़ कर दूर यात्रा को चला जाता है और यदि किसी व्यक्ति को अपने घर वालों या पड़ोसियों पर विश्वास न हो तो एक दिन के लिये भी वह सुखी जीवन व्यतीत नहीं कर सकता

भोजन तक नहीं कर पाता क्योंकि उसको भोजन में विष मिलने की ही शंका बनी रहेगी, यदि प्रकृति के नियमों पर मनुष्य का विश्वास न रहे और उसे यह निश्चय न हो कि सदा अंधेरा नहीं रह सकता, कुछ काल पश्चात् सूर्योदय होगा, रात व्यतीत हो जावेगी, पृथ्वी बीज का फल अवश्य देवेगी, जल पीने से प्यास का कष्ट मिट जयेगा, वायु अपना कार्य करती रहेगी, इन नियमों में कोई परिवर्तन न होगा— तो मनुष्य की गति या जीवन एक क्षण के लिए भी नहीं रह सकता । मनुष्य जीवन का आधार यही विश्वास रूपी चक्षु है अर्थात् आस्तिकता या सृष्टि के सत्य नियमों का विश्वास ही संसार का सहायक है ।

अग्नि अवश्य जलाती है । दो लकड़ियों या दियासलाई के रगड़ने से अग्नि अवश्य प्रदीप्त होगी और मेरी सरदी दूर हो जायेगी, मकान में प्रकाश हो सकेगा । धोबी अवश्य वस्त्र वापिस करेगा, दर्जी आदि सेवक काम ठीक करेंगे, नाई गर्दन नहीं काटेगा, जिसे सौदा दिया जा रहा है वह दाम अवश्य देगा—यह मनुष्य मात्र का एक दूसरे पर विश्वास रूपी चक्षु ही संसार के व्यवहार को कुशलता पूर्वक चला रहा है । यह विश्वास साधारण नहीं है, अपितु पूर्ण सत्य, अनुभव या साक्षात्कार का विश्वास है । इस विश्वास रूपी चक्षु या नेता के विना मनुष्य का जीवन निरर्थक तथा दुःख का जीवन हो जावेगा । यह चक्षु सब को सर्वत्र प्राप्त है इस के नेतृत्व में जो व्यक्ति या जाति अपने कार्यों को करेगी या करती

है व्यवहार चलावेगी या चलाती है वहां ही धन ऐश्वर्य, राज-शक्ति आदि सांसारिक सुख सम्पत्ति की अधिकता होती है और होगी—यह प्रत्यक्ष है। परन्तु इस संसार में प्रचलित विश्वास या सत्य की आश्रय भूमि भी प्रत्येक मनुष्य के अन्दर ही विद्यमान है जिस को ज्ञान चक्षु या विवेक बुद्धि कहा जाता है। जिस को पवित्र तथा जागृत रखने से मनुष्य को तत्त्व या वास्तव ज्ञान (True Knowledge) की प्राप्ति हो सकती है। इस टैस्ट या कसौटी से सदुपयोग लेकर मनुष्य मात्र के आपस के भ्रम, विवाद या विचार भेद को मिटाकर, कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म सुख-दुःख तथा अच्छे-बुरे का निश्चय होकर सुख शांति तथा प्रेम की स्थापना हो सकती है। यह चक्षु ही जड़-चेतन संसार के प्रकाश, ज्ञान-तथा गति शक्ति का आधार है, परन्तु इस का विशेष प्रत्यक्ष मनुष्य के शरीर में ही हो सकता है और होता है। इसी विवेक बुद्धि या ज्ञान चक्षु के कारण ही मनुष्य जीवन की अन्य सब सृष्टि से विशेषता है, मान है। क्योंकि यह ज्ञान चक्षु उस माता-पिता गुरुवत् जगद्नियन्ता की अपनी संतान या प्रतिनिधि रूप (जिसके भोग अपवर्ग के लिए यह संसार रचा गया है) मनुष्य को सत्य-असत्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, आदि के निश्चय के लिये कल्याणकारी मति रूपी आवाज है, जो कि प्रत्येक मनुष्य को न करने योग्य बुरा विचार या कर्म करते समय भय लज्जा, शंका के रूप में प्रकट होती है। परन्तु अज्ञानी या अल्पज्ञानी मनुष्य मलीनता के

कीटाणुओं की भांति इस माता की पुकार की अवहेलना करके मलीन विचारों के अभ्यासी होने के कारण, मलीन या अज्ञान युक्त कर्म करते जाते हैं । इसी कारण से वह दुःख उठाते है क्योंकि वे इस विवेक बुद्धि या ज्ञान चक्षु से काम नहीं लेते । परन्तु ज्ञानी पुरुष अपने निरन्तर स्वाध्याय, सत्संग, सद्व्यवहार-रूपी तप से इस ईश्वर-प्रदत्त चक्षु को सदा पवित्र तथा जागृत रखकर, इसी के नेतृत्व में अपनी जीवन यात्रा को चलाते हैं । उनकी गति-मति सर्वथा और सर्वदा अपने लिये तथा संसार के वास्तव प्रेम सुख वा आनन्द की प्राप्ति का कारण होती है ।

इसी लिये इस मन्त्र के द्वारा जिज्ञासु भक्त उस जगत् की माता को 'तच्चक्षुः' कह कर सम्बोधित करता है, क्योंकि वास्तव चक्षु जड़-चेतन सर्व-संसार की, प्राणाधार तथा ज्ञानाधार होने के कारण, एकमात्र वही सर्वव्यापक जगद् नियन्ता ईश्वर है । और यह दृष्ट-अदृष्ट सृष्टि उसी की महिमा है । कहा भी है—

देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ।

क्योंकि प्राणिमात्र की बाह्य चर्म चक्षु तथा आन्तरिक ज्ञान चक्षु का आधार या स्रोत वही है । उसकी शक्ति या सहायता के बिना सब दिखलावा है, फोकी बन्दूकें हैं । वायु तक तिनके को उड़ा नहीं सकती, अग्नि व सूर्य उसे जला नहीं सकते, पानी उसे बहा नहीं सकता—

"सर्वे निमेषाः जज्ञिरे विद्युतः पुरुषा-दधि ।"

अर्थात् उस बिजली के समान अन्तरात्मा के बिना, किसी प्राणी की आँख न खुल सकती है और न बन्द हो सकती है। किसी ज्ञानी-अज्ञानी मनुष्य या मनुष्य-समूह का भी इस नियम पर अधिकार नहीं। चूंकि इस ज्ञान-चक्षु जगदीश्वर के नेतृत्व में विद्वान्, ज्ञानी, देव पुरुष ही अपने प्रत्येक मन-वचन-क्रिया आदि के व्यवहार को चलाते हैं, इसलिये उनका ही हित या कल्याण होता है। (अज्ञानियों का जो इस चक्षु से काम नहीं लेते हित हो ही नहीं सकता। क्योंकि उलटे कर्म या विचार का फल भी उलटा या दुःखप्रद होता है।)

इसीलिये "तच्चक्षुः" के पश्चात् भक्त ने कहा—"देवहितं" अर्थात् दूरदर्शी, दिव्यगुणधारी पुरुष ही इस ज्ञान चक्षु को हितकारी बना लेते हैं, इसे अपना लेने से ही उनका कल्याण होता है। इसलिये कल्याण चाहने वाले मनुष्य को इसी आत्म चक्षु को सदा जागृत रख कर जीवन व्यतीत करना चाहिये। अज्ञानी पुरुष शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श या काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहंकार को सन्मुख या जागृत रख कर इस विषय-वासनाओं को चक्षु बना कर या संसार के नाशवान् पदार्थों तथा अपने अस्थिर शरीर को चक्षु या लक्ष्य बना कर विचरते हैं। इसलिये वे जन्म-मरण के चक्र में रहते हैं अर्थात् दुःख का आह्वान करते हैं, जोकि वास्तव में मनुष्य का अहित ही है।

फिर कहा है "शुक्रं" यह चक्षु रूप परमात्मा शुद्ध-स्वरूप है। और जहां पवित्रता है वहां ही बल-शक्ति-वीर्य अर्थात्

वह सर्व-शक्तिमान् तथा वीर्यवान् ईश्वर मौजूद है। इसलिये उस ज्ञान-विवेक-रूपी आत्म चक्षु के नेतृत्व में जो मनुष्य विचरता है, वह भी पवित्र तथा शक्ति-शाली हो जाता है। वह दीन, हीन, मलीन तथा निरुत्साह नहीं रह सकता। अर्थात् उस चक्षु को अपना बनाना या सदा जागृत रखना किसी अज्ञानी बल-हीन या वीर्यहीन मनुष्य का काम नहीं। जैसे कि कठ-उपनिषद् में भी कहा है—

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"

"निर्बल मनुष्य आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

संसार में मनुष्य के पास मुख्यतया तीन प्रकार के बल हैं—

१—शारीरिक, २—मानसिक, ३—आत्मिक। परन्तु ये सब शक्तियाँ प्राण के बिना कुछ कर्म नहीं कर सकतीं। शरीर या मन बिना जीवात्मा के निकम्मे हैं। और जीवात्मा की यात्रा इनके बिना सार्थक नहीं हो सकती। वैसे भी कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों के आधीन हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ मन के आधीन हैं; मन जीवात्मा का एक यन्त्र है। परन्तु प्राण के बिना इन सबकी क्रिया बन्द हो जाती है। प्राण अधिक काल और कुशलतापूर्वक ही स्थिरता पकड़ते और लाभदायक वहां होते और मनुष्य जीवन को लक्ष्य पर पहुँचाने के साधन बनते हैं जहाँ शुक्र शक्ति का निवास है। अर्थात् मन-वचन-कर्म में पवित्रता व एकता हो॥ उस चक्षु रूप परमात्मा और जीवात्मा के बीच में किसी प्रकार की मलीनता, अज्ञानता, ममत्वभाव, अहंकारआदि विकार-बाधा या पर्दा

न हो; ताकि उस शुक्र-चक्षु के ज्ञान तथा प्रकाश की ज्योति से जीवात्मा किसी समय भी वंचित न रहे और भ्रम-भूल में पड़ कर दुःखी न हो।

परन्तु क्या वह शुक्र चक्षु, जिसकी मनुष्य को हर समय प्रत्येक अवस्था में आवश्यकता है, कहीं दूर है? जिज्ञासु भक्त ने कहा नहीं—"पुरस्तात् उत् चरत्"—अर्थात् यह चक्षु सदा से या पूर्व से ही सामने विद्यमान खड़े के समान अथवा प्रत्यक्ष उदय के समान है। इस लिये उस ज्योति की प्राप्ति के लिये किसी अन्य शक्ति या व्यक्ति की सिफ़ारिश या सहायता की आवश्यकता नहीं। जब कभी मनुष्य उस शुक्र चक्षु का अभाव अनुभव करता है, तो उसके अपने अज्ञान या सासांरिक पदार्थों की लम्पटता से, उस चक्षु की ओर से ध्यान हटा लेने के कारण होता है। अन्यथा वह सदा ही जीव के साथ ही प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित और जागृत निवास करता है। सारे संसार की अधिष्ठात्री, सर्व सम्पत्तियों की खान, प्राणजीवन की आधार, जगन्माता को सामने प्रत्यक्ष सामने देख कर, छोटा बालक जिसका आधार अभी माता का दूध ही है—माता के दूध के बिना और किसी वस्तु के लिये प्रार्थना या याचना कर ही कैसे सकता है। इस लिये प्रभु भक्त अब प्रार्थना करता है—"पश्येम शरदः शतं" अर्थात् माता! तेरा शुक्र चक्षु अर्थात् ज्ञान चक्षु का दूध हमें सौ वर्ष तक प्राप्त रहे। उसी आन्तरिक ज्ञान चक्षु के नेतृत्व में सौ वर्ष तक बाह्य चर्म चक्षु देखा करें, क्योंकि उसके

बिना जो कुछ भी हम संसार में देखेंगे वह जड़-जगत् निर्बल प्रकृति अज्ञान या अंधेरा होगा। और वही है हमारी मृत्यु। जहां आन्तरिक ज्ञान चक्षु से हमारे चर्म चक्षु का संबन्ध निरन्तर बना रहे वहां बाहर के गोलकरूप चक्षु और उनके देखने की शक्ति भी सौ वर्ष तक बनी रहे, निर्बल न हो।

"जीवेम शरदः शतं"—अर्थात् हे माता तेरी प्राणशक्ति के बिना हमारी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक तथा सामाजिक शक्तियाँ—सभी निष्प्रयोजन हैं, निष्फल हैं, निर्जीव हैं। इसलिये हे जगत की प्राणाधार माता! सौ वर्ष तक "शुक्र चक्षु" रूपी प्राण-बल-वीर्य के स्रोत से हमको प्राण-बल-वीर्य युक्त पूर्ण जीवन की शक्ति प्राप्त रहे अर्थात तेरी ज्ञान-चक्षु के आधीन अपने विचारों और कर्मों को रखते हुए सबलता का जीवन व्यतीत करें। क्योंकि निर्बलता का जीवन रोगी जीवन, परतन्त्रता का जीवन है और मृत्यु समान है।

"शृणुयाम शरदः शतं"—अर्थात् सौ वर्ष तक तेरी ही महिमा, गुण कीर्तन, या शुभ-सत्य शब्दों को सुनते रहें। ताकि किसी समय भी तेरी 'शुक्र चक्षु' रूपी वेद ज्ञान से हम पृथक् न हों। अथवा हमारे सुनने की शक्ति तथा श्रवण गोलकों की स्वस्थता सौ वर्ष तक बनी रहे, ताकि तेरी वेद-वाणी तथा सत्संग में तेरी स्तुति-प्रार्थना आदि संगीतों के श्रवण से हम वंचित होकर अज्ञान में न फँसें और कभी हमारे मन-बुद्धि के कोष में कोई विकारी शब्द न पड़ें।

"प्रब्रवाम शरदः शतं"—अर्थात हमारा प्रवचन, कथन

तेरी शुक्र चक्षु अन्तरात्मा, ज्ञान चक्षु या विवेक-बुद्धि (Conscience) के अनुकूल हो। और जिसका आधार तेरा आदि सृष्टि में ऋषियों द्वारा दिया हुआ वेद-ज्ञान हो। अन्यथा हमारा प्रवचन असत्य होगा जिसका फल माता के दूध से वंचित होकर शिशु का मिट्टी खाकर दुःखी होना तथा मृत्यु के मुख में जाने के समान होगा। अथवा हमारी बोलने की शक्ति तथा जिह्वा सौ वर्ष तक स्वस्थ बनी रहे ताकि तेरी स्तुति-प्रार्थना-उपासना की विधि जो तेरी कृपा से तेरे भक्तों, वेद ज्ञान के निपुण, त्यागी विद्वानों द्वारा हमने जानी व श्रवण की है, उसका आयु-भर तेरी प्रजा में प्रचार करके, तेरी महिमा का विस्तार करके, तेरे रचित संसार को सुखधाम बनाने में यत्न-शील रहें। स्वयं मधुर, कल्याणकारी, सत्य वाणी बोलें और दूसरों को अपनी वाणी द्वारा ऐसा ही बोलने की शिक्षा सदा देते रहें। अर्थात् तेरी शुक्र चक्षु का व्याख्यान करने की सामर्थ्य हमारे में सौ वर्ष तक बनी रहे। हम व्यर्थ निरर्थक पशु-पक्षी की भांति अपनी वाणी को निर्जीव करने वाले न हों अर्थात् आपके इस उत्तम यन्त्र का सदुपयोग करके उसको सजीव या आकर्षण युक्त बनावें।

"अदीनाः स्याम शरदः शतं" अर्थात् तेरे ही आधीन होकर सौ वर्ष तक जियें क्योंकि तेरे से विमुख होकर या तेरा आश्रय छोड़ कर किसी दूसरे व्यक्ति की शरण में जाना ही (जो स्वयं तेरी रक्षा से सुरक्षित है) दीन-हीन होना है। एक दूसरे मन्त्र में भी कहा है—

भयानाम् भयं भीषणाम् भीषणानां,
गतिः प्राणिनाम् पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकं,
परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ॥

अर्थात्—जो संसार में किसी को भयभीत करने वाला है उसको भी तेरा भय है, जो किसी पर शासन करता है उस पर भी तेरा शासन है। सब प्राणियों का आधार तू ही है। जो प्रकाश तथा पवित्र करने वाली शक्तियां है उनका आधार भी तू ही है। संसार में जिस किसी को धन, जन, ज्ञान शस्त्र तथा यौवन आदि का अभिमान है वह सब तेरी उंगली के इशारे पर नाचने वाले हैं क्योंकि वे एक श्वास भी तेरी आज्ञा के बिना नहीं ले सकते, और सब सम्बन्धी साथ छोड़ देते है, सो जाते हैं, किसी-किसी समय सहायता करने से मुख मोड़ लेते हैं, अपितु मित्रता के स्थान पर शत्रुता करने लग जाते हैं, परन्तु तुम ही सच्चे बन्धु हो, जो दूर-दूर जहां भी हम जायें सदा हमारे साथ रहते हो। सदा कल्याण चाहते और करते हो, तथा हमको प्राण देने के लिये कभी सोते ही नहीं अर्थात् विश्राम तक नहीं लेते। जो संसार में किसी की रक्षा करता प्रतीत होता है, उसकी रक्षा भी आप ही कर रहे हैं। इस लिये हे माता ! तेरा पल्ला हम कभी न छोड़ें, अर्थात् तेरी आज्ञाओं का भंग कभी न करें क्योंकि तेरी आज्ञा का भंग करना,

तेरी अवहेलना करना; तेरी छाया से परे होना है और यही हमारी मृत्यु है। माता ! पशु-पक्षी तेरा पल्ला नहीं पकड़ सकते क्योंकि वे तुझे नहीं जानते और न ही तेरे साथ कोई सम्बन्ध जोड़ते हैं और इसी लिये वे दीन पराधीन हैं और ऐसे कारागार रूपी शरीर में बन्द हैं, जहां वे अपने कष्ट को प्रकट नहीं कर सकते, उनको अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता नहीं। परन्तु आप ने हमको मनुष्य-रूपी कर्मयोनि दी है, फिर ज्ञान और कर्म करने वाली इन्द्रियाँ ऐसी दी हैं, जिनके द्वारा शिक्षा लेकर हम इस प्रत्यक्ष तथा परोक्ष संसार में, तेरी महिमा को देखते हुए अनुभव करते, मनन करते, सुनते तथा गाते या वर्णन करते, तेरे प्रतिनिधि व अमृत पुत्र-पुत्रियाँ बन कर, स्वतन्त्र अभयता का जीवन व्यतीत कर सकते हैं। और दीनता अर्थात् पशु जीवन से (क्योंकि जन्म से मनुष्य पशु के समान है। ❀ उठ कर' उत्-तर श्रेष्ठ, उत्कृष्ट मनुष्य जीवन को सार्थक करके, तेरी करुणा तथा प्रेम के पात्र बन कर, देव पद को प्राप्त कर सकते हैं और मुक्त हो सकते हैं।

### "भूयश्च शरदः शतात्"—

हे माता ! तेरी आज्ञानुसार जीवन व्यतीत करके तेरी कृपा से हम सौ वर्ष से अधिक भी मनुष्यत्व तथा देवत्व का जीवन व्यतीत करसकें। तेरी कृपा से यह अधिकार हमें प्राप्त है,

---

❀ मनु ने भी कहा है—जन्मना जायते शूद्रः=मनुष्य जन्म से शूद्र अर्थात् पशु समान है।

परन्तु इस अधिकार की अर्थात् दीर्घायु अथवा तेरी देन, दिव्य शक्तियों को प्राप्त करके, हम अभिमान, अहंकार तथा लोकैषणा में न पड़ जावें। क्योंकि हम अल्प-ज्ञानी हैं संसार के पदार्थों और विषय वासनाओं का चमत्कार बहुत प्रबल है; किसी समय हम तेरा पल्ला छोड़ सकते हैं या कई तरह उसके छूटने की सम्भावना हो सकती हैं, इसलिये अन्त में आप से यही प्रार्थना है, चाहे हमारी आयु कितनी ही लम्बी हो जाये, आप की करुणा और प्रेरणा का हाथ सदा हमारे ऊपर रहे। और जैसे सांसारिक माता जिस समय उसका छोटा सा बालक, किसी सांसारिक चमत्कार को देख कर माता की उंगली छोड़ कर किसी गंदे नाले में गिरने लगता है, तो माता झटपट बालक को पकड़, झटका देकर बालक को अपनी ओर खींच लेती है और गंदी नाली में गिरने से बचा लेती है। ऐसे ही हे माता! जब कभी हम अभिमान की नाली में गिरने लगें तो हमारी रक्षा करने की कृपा करें ताकि सौ वर्ष से अधिक जीवन भी तेरी आधीनता तथा आज्ञा में व्यतीत हो।

साधारणतया भी प्रत्येक मनुष्य किसी और की अधीनता में रहना पसन्द नहीं करता, परन्तु तेरी आधीनता में रहना मनुष्यमात्र को स्वीकार है और सब इसी के लिये यत्न करते हैं। इसलिये तेरी आधीनता ही सच्ची स्वतन्त्रता और अभयता है। इसलिये जब तक हम जियें, हम इससे कभी वंचित न हों।

× × ×

इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को पहले तय्यारी करनी पड़ती है जिसके लिये इन मन्त्रों से पहले आए हुए सन्ध्या के पहले मन्त्र सहायक होते हैं। परन्तु इस अवस्था की प्राप्ति के लिए जिज्ञासु को, जो कि सन्ध्या से पूर्ण लाभ उठाना चाहता है निम्नलिखित शब्दों को पथ्य के रूप में स्मरण रख कर उसे उपयोग में लाना चाहिये। इसके बिना सन्ध्या से जो लाभ हम प्राप्त करना चाहते है, वह प्राप्त नहीं किया जा सकता।

सांसारिक दुःखों और शारीरिक भोग विलासों के बढ़ने से लोगों के आत्मिक ज्ञान पर आवरण पड़ जाता है। और वह संसार की विनाशवान् वस्तुओं तथा विषय वासनाओं में अधिकतर लिप्त हो जाते हैं और जहां पर अधिक बुद्धिमान् मनुष्य रहते हैं,यहां पर बुद्धिबल से शरीर के अविनाशी होने के विषय में जो विश्वास होता है वह निश्चित सिद्धान्त समझा जाता। जब मनुष्य की आत्मा पर किसी प्रकार का आवरण छा जाता है।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। गीता

अध्यात्मिक दृष्टि से किसी विषय पर विचार करने की शक्ति उसमें नहीं रहती। और वह क्षणिक वस्तुओं को स्थायी पदार्थों से नित्य को अनित्य से, नाशवान् को अविनाशी से सत्य को मिथ्या से और ब्रह्म को माया से मिला देता है। गीता में भी कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्त-चेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त-स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

अर्थात्—आहार (भोजन) और विहार (व्यवहार) में जो मनुष्य नियमपूर्वक चलता है और जो युक्त (उचित तथा वेदोक्त) कर्मों का पालन करता हो जो नियत समय पर सोता और जागता हो उस पुरुष का योग (उपासना) दुःखों का नाश करने वाला होता है।

इस लिये जिज्ञासु को गीता के इस श्लोक के अनुसार जीवन व्यतीत करने से उपासना के इन चार मन्त्रों की अवस्था प्राप्त होगी जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है। अंग्रेजी में भी कहा है—

Simple living and high thinking.

अर्थात् हमारा जीवन साधारण सरल तथा प्राकृतिक नियमों के अनुकूल होना चाहिये। तभी उसमें ऊँचे विचार उत्पन्न हो सकते हैं।

जीवन को सरल तथा विचारों को पवित्र और उदार बनाने के लिये हमें इन उपस्थान-उपासना मन्त्रों के अर्थों का मनन करते हुये सूर्य तथा प्रकृति की विभूतियों का ध्यान करते हुए परमात्मा के दर्शन करने के लिये, अपनी व्यक्तिगत शक्तियों को ब्रह्माण्ड की सूर्य चन्द्र की शक्तियों के साथ एक रस बनाने का यत्न करना चाहिये तभी हम सच्चे अर्थों में परमात्मा की उपासना कर सकेंगे।

इन उपस्थान मन्त्रों में परमात्मा के समीप होने के ऐसे ही सरल प्राकृतिक उपाय बताए गये हैं।